श्रीमद् उमास्वामी आचार्य विरचित

तत्त्वार्थ सूत्र

(मोक्षशास्त्र)

सम्पादक

आचार्य वसुनन्दी मुनि

प्रस्तुतिः निर्ग्रंथ ग्रन्थमाला

ग्रंथ : तत्त्वार्थ सूत्र (मोक्षशास्त्र सटीक)

ग्रंथकार : आचार्य भगवन् श्री उमास्वामी जी मुनिराज

मंगल आशीर्वाद : प.पू. श्वेतपिच्छाचार्य श्री 108 विद्यानंद जी मुनिराज

सम्पादन : आचार्य श्री 108 वसुनंदी जी मुनिराज

संस्करण : तृतीय (सन् 2022)

प्रतियाँ : 1000

प्रकाशक : निर्ग्रन्थ ग्रंथमाला समिति (पंजी.)
107/63 सी, पूर्व आजाद नगर, गली नं. 7,
कृष्णा नगर, दिल्ली-110051

ISBN : **978-93-94199-15-6**

प्राप्ति स्थल : ई-102 केशर गार्डन, सैक्टर-48, नोएडा-201301
मो. 9971548899, 9867557668

मुद्रक : ईस्टर्न प्रेस
नारायणा, नई दिल्ली-110028
ई-मेलः easternpress64@gmail.com

© सम्पादक एवं प्रकाशक के पास सर्वाधिकार सुरक्षित

''आद्यवक्तव्य''

''तत्त्वज्ञानविहीनानां दुःखमेव हि शाश्वतम्।''

परमपूज्य आचार्य भगवन् अजित सेन सूरि जी (मूल नाम ओड़यदेव, उपाधि गत नाम वादीभसिंह सूरि) ने क्षत्र चूड़ामणि नामक जीवंधर चरित्र में लिखा है कि तत्त्व ज्ञान से रहित जीव को शाश्वत दुःख ही दुःख मिलता है। वह संसार की किसी भी वस्तु को या सर्व पदार्थों को प्राप्त करके भी सुखी नहीं हो सकता है। सुख का कारण है सम्यक् ज्ञान, आत्मज्ञान, भेदविज्ञान, तत्त्वज्ञान।

आगे प. पू. आचार्य भगवन् अजितसेन सूरि जी लिखते हैं-

''तत्त्वज्ञान हि जीवानां लोकद्वय सुखावहम्।''

तत्त्व ज्ञान ही प्राणी मात्र के लिए दोनों लोकों में सुख का कारण है, तत्त्व ज्ञानी व्यक्ति को कोई दुःखी नहीं कर सकता। तत्त्वज्ञानी व्यक्ति संयमी, आध्यात्मिक व परम वैरागी होता है। तत्त्व ज्ञान, आत्मज्ञान के बिना निर्ग्रंथ अवस्था भी सार्थक नहीं है। कहा भी है-

तत्त्वज्ञान विहीनानां नैर्ग्रन्थमपि निष्फलम्। क्ष0 चू0

तत्त्वज्ञान से रहित निर्ग्रंथ अवस्था भी निष्फल है।

''तत्त्व'' का अर्थ है स्वभाव और ज्ञान का अर्थ है जानकारी/जीवंत अनुभव/आत्मोत्पन्न संवित्ति।

तत्त्वार्थ सूत्र जैन दर्शन का एक ऐसा प्रतिनिधि स्वरूप मूल ग्रंथ है जिसका गुरु मुख से अध्ययन करने पर जैन धर्म की आत्मा से साक्षात्कार हो जाता है। तत्त्वार्थ सूत्र का अपर नाम है ''मोक्ष शास्त्र'' और इसके रचयिता हैं महान् वाग्मी, तार्किक, नैयायिक, आध्यात्म योगी, सिद्धांतज्ञ आचार्य उमास्वामी जी।

''तत्त्वार्थ सूत्र'' शब्द तीन शब्दों के जोड़ से मिलकर बना है, जिसमें ''तत्त्व'' शब्द का अर्थ है भाव या स्वभाव। ''अर्थ'' शब्द का आशय है पदार्थ या वस्तु और ''सूत्र'' शब्द का अभिप्राय है अत्यंत संक्षिप्त में सार गर्भित कथन।

प्रस्तुतग्रंथ ''मोक्ष शास्त्र'' में मोक्षमार्ग व मोक्ष का कथन है, अथवा जीव के प्रयोजन भूत सात तत्त्वों का दश अध्यायों में सारभूत विवेचन है।

दस अध्यायों में ही प्रयोजन भूत सात तत्त्वों का कथन करने का यह भी

अभिप्राय है कि 10 में एक अंक है दूसरा शून्य है, जिसका आशय है संसार में केवल एक आत्मा ही प्रयोजन भूत है शेष सब शून्य है। एक के अंक स्वरूपी अपनी आत्मा को सर्व कर्म पुद्गल परमाणुओं का परित्यागकर शुद्ध बनाना है।

तत्त्वार्थ सूत्र ग्रंथ के प्रथम अध्याय में मोक्षमार्ग का कथन करते हुए सम्यक् दर्शन उसकी उत्पत्ति के उपाय, पदार्थों को जानने के उपाय का कथन है, इसके साथ-साथ पाँच प्रकार के सम्यक् ज्ञान व मिथ्याज्ञान, प्रमाण व नय का विवेचन किया गया है।

द्वितीय अध्याय में जीव के असाधारण पाँच भावों का वर्णन है, तदुपरान्त जीव का लक्षण, भेद, इन्द्रियाँ, विग्रतगति, योनि, शरीर, त्रिवेद तथा अकाल मृत्यु के सम्बंध में कथन है।

तृतीय अध्याय में नरक की भूमियाँ, नारकी जीवों की स्थिति, वेदना, नरकों की संख्याओं का वर्णन है। इसके उपरान्त मध्यलोक के असंख्यात द्वीप समुद्रों का वर्णन है, जम्बूद्वीप में स्थित कुलाचल, नदी व क्षेत्रों का वर्णन है। आगे ढाई द्वीप में विद्यमान मनुष्य व तिर्यचों का कर्मभूमि व भोगभूमि की अपेक्षा वर्णन है।

चतुर्थ अध्याय में चार प्रकार के देव, उनकी स्थिति, भेद-प्रभेद उनके लेश्या जन्य परिणाम आदि का सविस्तार वर्णन है।

पाँचवें अध्याय में अजीव द्रव्यों की मुख्यता से विवेचना है। पुद्गल द्रव्य, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य, काल द्रव्य इन सभी के स्वरूप, प्रदेश, उपयोगिता, लक्षण व अन्य विशेषताओं का वर्णन है। द्रव्यों का पारस्परिक उपकार एवं कर्म बंध की प्रक्रिया का वर्णन है।

छठवें अध्याय में आश्रव तत्त्व का कथन है, ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के आश्रव व बंध के प्रत्यय है, कषाय सहित व कषााय रहित आश्रव में क्या विशेषता है, इत्यादिक के सम्बंध में सुगतम विवेचन है।

सातवें अध्याय में व्रत, उसके भेद, देशव्रत व महाव्रत की भावनाएँ, श्रावक के बारह व्रतों का स्वरूप व उनके अतिचारों का वर्णन है। इस अध्याय में भी प्रशस्त आश्रव तत्त्व का ही वर्णन है।

आठवें अध्याय में-प्रकृति, प्रदेश, स्थिति व अनुभाग बंध का कथन है, बन्ध के प्रत्ययों का कथन है, कर्म की मूल आठ प्रकृतियों की जघन्य व उत्कृष्ट स्थितियों का विशेष वर्णन है। इस अध्याय में बंध तत्त्व की प्रधानता है।

नवमें अध्याय में - गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र एवं तप का स्वरूप, उनके भेद-प्रभेदों का वर्णन है। तदुपरान्त चार प्रकार के ध्यान व उसके स्वामी का वर्णन है और अंत में निर्ग्रंथ श्रमणों का स्वरूप, भेद व उनकी विशेषताओं का वर्णन है। इस अध्याय में संवर व निर्जरा तत्त्व की मुख्यता से वर्णन है।

दशमें अध्याय में-जीव की मुक्तदशा, उसके कारण, स्वरूप आदि का वर्णन है। इस अध्याय में मोक्ष तत्त्व का वर्णन है।

ग्रंथकर्ता का परिचय

प्रस्तुत ग्रंथ के रचयिता आचार्य उमास्वामी महाराज हैं। आप आध्यात्मिक शिरोमणि आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी के प्रियाग्र, सुयोग्य व परम विद्वान् पट्टाचार्य शिष्य थे। आपने लगभग 18 वर्ष की आयु में निर्ग्रंथ जिनदीक्षा धारण की, आप 24 वर्ष मुनि अवस्था में तथा 40 वर्ष 8 दिन आचार्य पद से विभूषित रहे। आप की कुल आयु 84 वर्ष की रही। आप सम्मानीय, नृपसुत थे। संसार की स्थिति को देखकर, गहन चिंतन के द्वारा भोगों से वैरागी बन मोक्षमार्गी हो गये। आपने जैन धर्म की परम प्रभावना की। प्रस्तुत ग्रंथ संस्कृत भाषा का सूत्रानुबद्ध, जैन दर्शन का तल स्पर्शी ज्ञान कराने वाला अद्वितीय ग्रंथ है। आपने विदेह क्षेत्र में भगवान् सीमंधर स्वामी तीर्थंकर की दिव्यध्वनि का साक्षात् लाभ लिया। देवों द्वारा ले जाने पर मार्ग में पिच्छिका गिर जाने से आपने गृद्ध पक्षी के पंखों से पीछी बनाकर उसका उपयोग किया अतएव आपका नाम गृद्धपिच्छाचार्य भी प्रसिद्ध है।

कुछ मनीषी विद्वान् आपका जन्म दक्षिण भारत के किसी जनपद में विक्रम की दूसरी सदी में हुआ मानते हैं। आपके माता-पिता का नाम भी उमा व स्वाति मानते हैं । दक्षिण भारत में माता-पिता के नाम के आधार पर ही पूर्व में नाम रखने की परम्परा थी।

आपके द्वारा रचित साहित्य में से वर्तमान काल में प्रस्तुत ग्रंथ तत्त्वार्थ सूत्र व श्रावकाचार आदि कुछेक ग्रंथ ही उपलब्ध हैं, शेष ग्रंथों की विशेष जानकारी भी उपलब्ध नहीं है।

ग्रंथ निर्माण की भूमिका

बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ स्वामी की निर्वाण स्थली उर्जयंत गिरि (गिरनार) पर्वत के निकटगिरि नगर नाम का एक ग्राम था। वहाँ एक भद्र परिणामी द्वैयाक (क्वचित्-ग्रंथे सिद्धेभ्य ग्रामासीत) नामक भव्य द्विजोत्तम श्रावक रहता था। एक दिन उसने स्व-पर हितार्थ 'दर्शन, ज्ञान, चारित्राणि मोक्षमार्गः', यह सूत्र बनाया और उसे एक तख्ती पर लिखकर अपने घर मे टांग दिया। द्वैयाक नामक वह श्रावक किसी कार्य वश नगरान्तर में गया था तभी एक निर्ग्रंथ मुनिराज चर्या हेतु वहाँ पधारे, उस श्रावक की पत्नि व माँ आदि ने मुनिराज को आहार दिया, आहारोपरांत जब वे जाने लगे तो उनकी दृष्टि उस तख्ते पर लिखे सूत्र पर पड़ी। मुनिराज ने यह सोचकर कि इस अर्द्ध सूत्र से कोई भव्य जीव संसार में भटक न जाये अतः उस सूत्र में ''सम्यक्'' शब्द जोड़ दिया। जब द्वैयाक निज गृह आया और अपने सूत्र वाक्य में संशोधन देखा तो अपनी गृहिणी से तत्सम्बंध में पूछा, गृहिणी ने मुनिराज के बारे में बताया। तब वह तत्त्वोपदेश की उत्कृष्ट अभिलाषा से मुनिराज के चरण सानिध्य में गया। वहाँ जाकर मुनिराज से आत्म कल्याण हेतु धर्मोपदेश सुनाने का निवेदन किया। मुनिराज ने द्वैयाक की जिज्ञासाओं का समाधान करते हुए प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की। प्रस्तुत ग्रंथ में आत्म कल्याण में प्रयोजन भूत सात तत्त्वों का 10 अध्यायों में 347 सूत्रों के द्वारा कथन किया है। प्रस्तुत ग्रंथ अत्यंत महत्वपूर्ण होने से इसकी आज तक संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओं में मुनिराजों व विद्वानों द्वारा शताधिक टीकायें लिखी जा चुकी हैं। इसमें मुख्यतः-3 काल +6 द्रव्य +9 पदार्थ +6 काय +6लेश्या +5 अस्तिकाय +5 व्रत +5 समिति +4 गति +5 ज्ञान +5 चरित्र =आदि 60 विषयों का सूत्रों में विवेचन है। सूत्र वे कहलाते हैं जो अल्पाक्षरी हों, संदेह से रहित हों, सारभूत हों, गूढ़ निर्णय करने वाले अर्थात रहस्योद्घाटक हों, सकारण कथन करने वाले हों।

प्रस्तुतग्रंथ का (सूत्रानुवाद) हिन्दी व्याख्यान गुरूनाम् गुरु परम पूज्य भारत गौरव, धर्मालंकार, दि0 जैनाचार्य श्री देशभूषण महाराज जी ने किया है। एतदर्थ उनके चरण युगल में कृतज्ञता पूर्वक शतशः नमोस्तु। ग्रंथकर्ता-परम पूज्य आचार्य भगवन् श्री उमास्वामी महाराज के पवित्रतम युगल चरण में भी नमोस्तु एवं मेरे साक्षात् उपकारी, परम श्रद्धेय, ध्येय, परम आराध्य, परम पूजनीय राष्ट्र संत सिद्धांत चक्रवर्ती दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यानंद जी महाराज के पावन युगल

चरणाम्बुज में भी श्रद्धा, भक्ति, विनय के साथ नमोस्तु।

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशन में सहयोगी संघस्थ मुनिराज, ऐलक जी, छुल्लक जी व सभी त्यागी व्रतियों को यथायोग्य ''प्रतिनमोस्तु'', ''सुसमाधिरस्तु'', ''धर्मवृद्धिरस्तु'' शुभाशीष, प्रकाशक-निर्ग्रंथ ग्रंथमाला समिति को, अपने न्यायोपार्जित द्रव्य का सदुपयोग करने वाले सुधी श्रावक को सपरिवार धर्मवृद्धि शुभाशीष।

प्रस्तुत ग्रंथ के सम्पादन में मुझ छद्मस्थ श्रमण द्वारा जो त्रुटि रह गई हो तो विज्ञ जन उन्हें संशोधन कर ही पढ़ें, गुणों को ग्रहण करने का ही पुरुषार्थ करें, त्रुटियों के लिए हमें अवगत कराने का कष्ट करें। प्रस्तुत ग्रंथ में जो कुछ भी आपके कल्याण करने में समर्थसूत्र वाक्य व सूत्रार्थ हैं वह सब परम पूज्य आचार्य भगवंतों का करुण रस से परिपूरित परम प्रसाद है तथा जो त्रुटियाँ हैं वह मेरा क्षम्य अपराध है। स्वाध्याय प्रेमी इसका नित्य पाठ करें क्योंकि इसको एक बार भाव सहित सुनने मात्र से भी एक निर्जल उपवास करने का फल प्राप्त होता है। आप सभी का कल्याण हो।

श्री शुभमिति पौष शुक्ला त्रयोदश्यां
चन्द्रवार वासरे प्रवर्धमान योगस्य
अमृत सिद्धस्य रवियोगे वीर निर्वाणाब्दे
गते त्रयत्रिंशति उत्तरे पंच विंशतिशते
विक्रम संवत्सरे त्रिषष्ठी उत्तरे विंशतिशते
गते।
श्री चन्द्रप्रभः दिगम्बर जैन अतिशय
क्षेत्रे देहरा तिजारा, अलवरः

ॐ ह्रीं नमः
कश्चिदल्पज्ञ श्रमण पाठकः
जिनेन्द्र चरणाम्बुज चंचरीक
सोमवार 1 जनवरी 2007, देहरा,
तिजारा (अलवर) राजस्थान।

श्रीउमास्वामीविरचित

श्री मोक्षशास्त्र सटीक

प्रथम अध्याय

मंगलाचरण

दोहा-वीरवदन-हिम गिरि निकसि, फैली जो जग रङ्ग।
नय तरङ्ग युत गङ्ग वह, क्षालै पाप अभङ्ग॥

मोक्ष-मार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये।।

अर्थ - मोक्षमार्ग के नेता, कर्मरूपी पर्वतों के भेदन करने वाले और समस्त तत्त्वों के जानने वाले भगवान् को उनके गुणों की प्राप्ति के लिये मैं (आचार्य उमास्वामी) उनकी वन्दना करता हूँ।

मोक्ष प्राप्ति का उपाय

सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः॥१॥

अर्थ - **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि** = सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर, **मोक्षमार्गः** = मोक्ष के मार्ग अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के उपाय हैं।

सम्यग्दर्शन - सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पर श्रद्धान करना व जीवादि सात तत्त्वों पर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्ज्ञान - संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित जीवादि पदार्थों का जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

सम्यक्चारित्र - मिथ्यादर्शन, कषाय तथा हिंसा आदि संसार के कारणों से विरक्त होना सम्यक्चारित्र कहलाता है। सम्यग्दर्शन का लक्षण आगे के सूत्र में कहते हैं॥१॥

सम्यग्दर्शन का लक्षण

तत्त्वार्थ-श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥२॥

अर्थ - **तत्त्वार्थ श्रद्धानम्** = तत्त्व वस्तु के स्वरूप सहित अर्थ-जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना, **सम्यग्दर्शनम्** = सम्यग्दर्शन (अस्ति) है।

भावार्थ – चौथे सूत्र में कहे जाने वाले जीव आदि सात तत्त्वों का जैसा स्वरूप वीतराग सर्वज्ञ भगवान् ने कहा है– उसका उसी प्रकार श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है। यह व्यवहार सम्यग्दर्शन का लक्षण है॥२॥

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति की अपेक्षा भेद

तन्-निसर्गादधिगमाद्-वा॥३॥

अर्थ – **तत्** = वह सम्यग्दर्शन, **निसर्गात्** = स्वभाव से, **वा** = अथवा, **अधिगमात्** = पर के उपदेश आदि से **(उत्पद्यते)** उत्पन्न होता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति की अपेक्षा दो भेद हैं– (१) निसर्गज, (२) अधिगमज।

निसर्गज – जो पर के उपदेश के बिना अपने आप (पूर्वभव के संस्कार से) उत्पन्न हो, उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अधिगमज – जो पर के उपदेश आदि से होता है, उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं॥३॥

तत्त्वों के नाम

जीवाजीवास्रव-बन्धसंवरनिर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम्॥४॥

अर्थ – **जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाः**=जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात **तत्त्वम्** तत्त्व **[सन्ति]** हैं।

जीव – जिसमें ज्ञान-दर्शन रूप चेतना पायी जावे उसे जीव कहते हैं।

अजीव – जिसमें चेतना न पाई जावे उसे अजीव कहते हैं।

आस्रव – बन्ध के कारण को आस्रव कहते हैं।

बन्ध – आत्मा के प्रदेशों के साथ कर्मों का दूध-पानी की तरह मिल जाना बन्ध है।

संवर – आस्रव के रुकने को संवर कहते हैं।

निर्जरा – आत्मा के प्रदेशों से पहले के बंधे हुए कर्मों का एकदेश क्षय होना निर्जरा है।

मोक्ष – समस्त कर्मों के बिल्कुल क्षय हो जाने को मोक्ष कहते हैं॥४॥

सात तत्त्व तथा सम्यग्दर्शन आदि के व्यवहार के कारण

नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्-तन्-न्यासः ॥५॥

अर्थ – **नामस्थापनाद्रव्यभावतः**=नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से **तत् न्यासः**=

उन सात तत्त्वों तथा सम्यग्दर्शन आदि लोकव्यवहार [**भवति**] होता है। नाम आदि चार पदार्थ ही चार निक्षेप कहलाते हैं।

नामनिक्षेप - गुण, जाति, द्रव्य और क्रिया की अपेक्षा के बिना ही इच्छानुसार किसी का नाम रखने को नामनिक्षेप कहते हैं। जैसे किसी का नाम 'जिनदत्त' है। यद्यपि वह जिनदेव के द्वारा नहीं दिया गया है तथापि लोकव्यवहार चलाने के लिये उसका जिनदत्त नाम रख लिया गया है।

स्थापनानिक्षेप - धातु, काष्ठ, पाषाण आदि की प्रतिमा तथा अन्य पदार्थों में 'यह वह है' इस प्रकार किसी की कल्पना करना सो स्थापनानिक्षेप है। इसके दो भेद हैं- तदाकार स्थापना और अतदाकार स्थापना। जिस पदार्थ का जैसा आकार है, उसमें उसी आकार वाले की कल्पना करना तदाकार स्थापना है- जैसे पार्श्वनाथ भगवान् की प्रतिमा में पार्श्वनाथ की कल्पना करना। और भिन्न आकार वाले पदार्थों में किसी भिन्न आकार वाले की कल्पना करना अतदाकार स्थापना है। जैसे शतरंज की गोटों में बादशाह, बजीर आदि की कल्पना करना।

द्रव्यनिक्षेप - भूत-भविष्य पर्याय की मुख्यता लेकर वर्तमान में कहना सो द्रव्यनिक्षेप है। जैसे पहले कभी पूजा करने वाले पुरुष को वर्तमान में पुजारी कहना और भविष्य में राजा होने वाले राजपुत्र को राजा कहना।

भावनिक्षेप - केवल वर्तमान पर्याय की मुख्यता से अर्थात् जो पदार्थ जैसा है, उसको उसी रूप कहना सो भावनिक्षेप है। जैसे काष्ठ को काष्ठ अवस्था में काष्ठ, आग होने पर आग और कोयला हो जाने पर कोयला कहना ॥५॥

सम्यग्दर्शन आदि तथा तत्त्वों के जानने के उपाय

प्रमाण-नयै-रधिगमः ॥६॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय और जीव आदि तत्त्वों का **अधिगमः**=ज्ञान **प्रमाणनयैः**=प्रमाण और नयों से [**भवति**] होता है।

प्रमाण - जो पदार्थ के सर्व देश को ग्रहण करे, उसे प्रमाण कहते हैं। इसके दो भेद हैं- १- प्रत्यक्ष प्रमाण २- परोक्ष प्रमाण। आत्मा किसी बाह्य निमित्त की सहायता के बिना ही पदार्थों को स्पष्ट जाने, उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं और इन्द्रिय तथा प्रकाश आदि की सहायता से पदार्थों को एकदेश जाने उसे परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

नय - जो पदार्थ के एकदेश को विषय करे-जाने उसे नय कहते हैं। इसके

दो भेद हैं १- द्रव्यार्थिक, २- पर्यायार्थिक। जो मुख्य रूप से द्रव्य को विषय करे उसे द्रव्यार्थिक और जो मुख्य रूप से पर्याय को विषय करे उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं॥६॥

निर्देश-स्वामित्व-साधनाधि-करण-स्थिति-विधानतः॥७॥

अर्थ - निर्देश, स्वामित्व, साधना, अधिकरण, स्थिति और विधान इनसे भी जीवादिक तत्त्व तथा सम्यग्दर्शन आदि का व्यवहार होता है।

निर्देश - वस्तु के स्वरूप का कथन करना निर्देश है।

स्वामित्व - वस्तु के अधिकार को स्वामित्व कहते हैं।

साधन - वस्तु की उत्पत्ति के कारण को साधन कहते हैं।

अधिकरण - वस्तु के आधार को अधिकरण कहते हैं।

स्थिति - वस्तु के काल की अवधि को स्थिति कहते हैं।

विधान - वस्तु के भेदों को विधान कहते हैं॥७॥

कुछ अन्य अनुयोगों के द्वारा भी ज्ञान होता है-

सत्संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावाल्प बहुत्वैश्च॥८॥

अर्थ - **च** = और सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगों के द्वारा भी पदार्थ का ज्ञान (भवति) होता है।

सत् - वस्तु के अस्तित्व को सत् कहते हैं।

संख्या - वस्तु के भेदों की गिनती को संख्या कहते हैं।

क्षेत्र - वस्तु के वर्तमान काल के निवास को संख्या कहते हैं।

स्पर्शन - वस्तु के तीनों काल सम्बन्धी निवास को स्पर्शन कहते हैं।

काल - वस्तु के ठहरने की मर्यादा को काल कहते हैं।

अन्तर - वस्तु के विरहकाल को अन्तर कहते हैं।

भाव - औपशमिक, क्षायिक आदि परिणामों को भाव कहते हैं।

अल्पबहुत्व - अन्य पदार्थ की अपेक्षा किसी वस्तु की हीनाधिकता वर्णन करने को अल्पबहुत्व कहते हैं॥८॥

सम्यग्ज्ञान का वर्णन, ज्ञान के भेद और नाम

मति-श्रुतावधि-मनः पर्यय-केवलानि-ज्ञानम् ॥९॥

अर्थ - **मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि** = मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच प्रकार के **ज्ञानं** = ज्ञान (सन्ति) होते हैं।

मतिज्ञान - जो पाँच इन्द्रियों और मन की सहायता से स्पष्ट जाने, उसे मतिज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान - जो पाँच इन्द्रियों और मन की सहायता से मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थ को विशेष रूप से जानता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान - जो इन्द्रियों की सहायता के बिना ही रूपी पदार्थों को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिये हुए एक देश स्पष्ट जाने उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

मनःपर्ययज्ञान - जो किसी की सहायता के बिना ही अन्य पुरुष के मन में स्थित, रूपी पदार्थों को एक देश स्पष्ट जाने उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं॥९॥

केवलज्ञान - जो सब द्रव्यों तथा उनकी सब पर्यायों को एक साथ स्पष्ट जाने, उसे केवलज्ञान कहते हैं॥९॥

प्रमाण का लक्षण और भेद

तत्प्रमाणे॥१०॥

अर्थ - **तत्** = ऊपर कहा हुआ पाँच प्रकार का ज्ञान ही **प्रमाणे** = प्रमाण **(अस्ति)** है।

भावार्थ - सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। उसके दो भेद हैं- १- प्रत्यक्ष, २- परोक्ष॥१०॥

परोक्ष प्रमाण के भेद

आद्ये परोक्षम् ॥११॥

अर्थ - **आद्ये** = आदि के दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, **परोक्षम्** = परोक्ष प्रमाण **(स्तः)** हैं॥११॥

प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद

प्रत्यक्ष-मन्यत् ॥१२॥

अर्थ - **अन्यत्** = शेष तीन अर्थात् अवधि, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान

प्रत्यक्षम् = प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ॥१२॥

मतिज्ञान के दूसरे नाम

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभि-निबोध इत्य-नर्थान्तरम्॥१३॥

अर्थ - मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इत्यादि अन्य पदार्थ नहीं हैं अर्थात् मतिज्ञान के नामान्तर हैं।

मति - मन और इन्द्रियों से वर्तमान काल के पदार्थों का जानना मति है।

स्मृति - पहले जाने हुए पदार्थ का वर्तमान में स्मरण आने को स्मृति कहते हैं।

संज्ञा - वर्तमान में किसी पदार्थ को देखकर 'यह वही है' इस प्रकार स्मरण और प्रत्यक्ष के जोड़ रूप ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। इसी का दूसरा नाम 'प्रत्यभिज्ञान' है।

चिन्ता - 'जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है-जैसे रसोईघर' इस प्रकार के व्याप्ति ज्ञान को चिन्ता कहते हैं।

अभिनिबोध - साधन से साध्य के ज्ञान होने को अभिनिबोध कहते हैं- जैसे 'उस पहाड़ में अग्नि है, क्योंकि उस पर धूम है' इसी का दूसरा नाम 'अनुमान' है।

मतिज्ञान की उत्पत्ति का कारण और स्वरूप

तदिन्द्रिया-निन्द्रिय-निमित्तम् ॥१४॥

अर्थ - **तत्** = वह मतिज्ञान, **इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्** = पाँच इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है॥१४॥

मतिज्ञान के भेद

अवग्रहे-हावाय धारणाः ॥१५॥

अर्थ - मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं।

अवग्रह - दर्शन के बाद शुक्ल कृष्ण आदि रूप विशेष का ज्ञान होना अवग्रह है।

ईहा - अवग्रह के द्वारा जाने हुए पदार्थ को विशेष रूप से जानने की चेष्टा करना ईहा है। जैसे - वह शुक्लरूप बगुला है या पताका।

ईहा ज्ञान को 'यह चाँदी है या सीप' इत्यादि की तरह संशय रूप न समझना चाहिये, क्योंकि संशय में अनिश्चित अनेक कोटियों का अवलम्बन रहता है, जो कि यहाँ नहीं है। यहाँ बलाका और पताका का कथन के उदाहरणों की अपेक्षा है। उसका स्पष्ट भाव यह है, यदि यह बलाका है, तो बलाका होना चाहिये और यदि पताका है तो पताका होना चाहिये। ईहा में भवितव्यता रूप प्रत्यय ज्ञान होता है।

अवाय - विशेष चिह्न देखने से उसका निश्चय हो जाना अवाय है। जैसे उस शुक्ल पदार्थ में पंखों का फड़फड़ाना, उड़ना आदि चिह्न देखने से बगुला का निश्चय होना।

धारणा - अवाय से निश्चित किये हुए पदार्थ को कालांतर में नहीं भूलना सो धारणा है॥१५॥

अवग्रह आदि के विषयभूत पदार्थ

बहु-बहुविध-क्षिप्रा-निःसृता-नुक्त-ध्रुवाणां सेतराणाम्॥१६॥

अर्थ - **सेतराणाम्** = अपने प्रतिपक्षी एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और अध्रुव भेदों सहित **बहुबहुविधक्षिप्रानिः सृतानुक्तध्रुवाणाम्** = बहु, बहु विध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त, ध्रुव इन बारह प्रकार के पदार्थों का अवग्रह ईहादि रूप ज्ञान होता है।

१ बहु - एक साथ बहुत पदार्थों का अवग्रहादि होना। जैसे- गेहूँ की राशि देखने से बहुत से गेहुँओं का ज्ञान।

२ बहुविध - बहुत प्रकार के पदार्थों का अवग्रहादि ज्ञान होना। जैसे गेहूँ, चना, चावल आदि कई पदार्थों का ज्ञान।

३ क्षिप्र - शीघ्रता से पदार्थ का ज्ञान होना।

४ अनिःसृत - एक देश के ज्ञान से सर्वदेश का ज्ञान होना। जैसे- बाहर निकली हुई सूंड देखकर जल में डूबे हुए पूरे हाथी का ज्ञान होना।

५ अनुक्त - वचन से कहे बिना अभिप्राय से जान लेना। जैसे मुँह की सूरत तथा हाथ आदि के इशारे से प्यासे मनुष्य का ज्ञान होना।

६ ध्रुव - बहुत काल तक जैसा का तैसा ज्ञान होते रहना।

७ एक - अल्प वा एक पदार्थ का ज्ञान। जैसे- एक गेहूँ आदि का ज्ञान।

८ एक विध - एक प्रकार के पदार्थों का ज्ञान। जैसे एक सदृश गेंहुओं का ज्ञान।

९ अक्षिप्र – चिरग्रहण = किसी पदार्थ को धीरे-धीरे बहुत समय में जानना।

१० निःसृत – बाहर निकले हुए प्रकट पदार्थों का ज्ञान होना।

११ उक्त – शब्द सुनने के बाद ज्ञान होना।

१२ अध्रुव – जो क्षण-क्षण हीन-अधिक होता रहे, उसे अध्रुव ज्ञान कहते हैं॥१६॥

अर्थस्य ॥१७॥

अर्थ – ऊपर कहे हुए बहु आदिक बारह भेद पदार्थ-द्रव्य के हैं अर्थात् बहु आदि विशेषण विशिष्ट पदार्थ के ही अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं॥१७॥

अवग्रह ज्ञान में विशेषता

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥१८॥

अर्थ – **व्यञ्जनस्य** = अप्रकट रूप शब्दादि पदार्थों का, **अवग्रहः** = सिर्फ अवग्रह ज्ञान होता है। ईहादिक तीन ज्ञान नहीं होते।

भावार्थ – अवग्रह के दो भेद हैं १- व्यञ्जनावग्रह और २- अर्थावग्रह।

व्यञ्जनावग्रह – अव्यक्त-अप्रकट पदार्थ के अवग्रह को व्यञ्जनावग्रह कहते हैं।

अर्थावग्रह – व्यक्त-प्रकट पदार्थ के अवग्रह को अर्थावग्रह कहते हैं॥१८॥

न चक्षु-रनिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥

अर्थ – **चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्** = नेत्र और मन से व्यञ्जनावग्रह, **न** = नहीं होता है।

श्रुतज्ञान का वर्णन, श्रुतज्ञान की उत्पत्ति का क्रम और भेद

श्रुतं मति पूर्वं द्व्यनेक-द्वादश-भेदम् ॥२०॥

अर्थ – **श्रुतम्** = श्रुतज्ञान, **मतिपूर्वम्** = मतिज्ञानपूर्वक होता है अर्थात् मतिज्ञान के पश्चात् होता है। और वह श्रुतज्ञान, **द्व्यनेकद्वादशभेदम्** = दो, अनेक तथा बारह भेद वाला है।

भावार्थ – श्रुतज्ञान मतिज्ञान के बाद में होता है। उसके दो भेद हैं। १- अंग बाह्य और अंग प्रविष्ट। उनमें से अंग बाह्य के अनेक भेद हैं और अंग प्रविष्ट के १ आचारांग, २ सूत्रकृतांग, ३ स्थानांग, ४ समवायांग, ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग, ६

ज्ञातृधर्मकथांग, ७ उपासकाध्ययनांग, ८ अन्तः कृद्दशांग ९ अनुत्तरौपपादिकदशांग, १० प्रश्नव्याकरणांग, ११ विपाकसूत्रांग, और १२ दृष्टिप्रवाद अंग, ये बारह भेद हैं। इसमें से दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग के ५ भेद हैं। १ परिकर्म, २ सूत्र, ३ प्रथमानुयोग, ४ पूर्वगत और ५ चूलिका। परिकर्म के ५ भेद हैं- १ व्याख्याप्रज्ञप्ति, २ द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, ३ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४ सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति। चूलिका के भी ५ भेद हैं- १ जलगता, २ स्थलगता, ३ मायागता, ४ आकाशगता और ५ रूपगता। सूत्रगत और प्रथमानुयोग के एक एक ही भेद हैं। पूर्वगत के १४ भेद हैं- १ उत्पाद, २ अग्रायणी, ३ वीर्यानुप्रवाद, ४ अस्तिनास्तिप्रवाद, ५ ज्ञानप्रवाद, ६ सत्यप्रवाद, ७ आत्मप्रवाद, ८ कर्मप्रवाद, ९ प्रत्याख्यान, १० विद्यानुवाद, ११ कल्याणानुवाद, १२ प्राणानुवाद, १३ क्रियाविशाल और १४ लोकबिन्दुसार। **नोट**- (इन सबके पदों का प्रमाण तथा विषय आदि राजवार्तिक आदि उच्च ग्रन्थों से जानना चाहिये।)

अवधिज्ञान का वर्णन

भव-प्रत्ययोऽवधि-र्देव-नारकाणाम्॥२१॥

अर्थ - **भवप्रत्ययः**=भवप्रत्यय नाम का **अवधिः**=अवधिज्ञान **देवनारकाणाम्**= देव और नारकियों के होता है।

भावार्थ - अवधिज्ञान के दो भेद हैं। १- भवप्रत्यय और २- गुणप्रत्यय [क्षायोपशमिक]।

भवप्रत्यय - देव और नरक भव (पर्याय) के कारण जो उत्पन्न हो उसे भवप्रत्यय कहते हैं।

गुणप्रत्यय - जो किसी पर्याय-विशेष की अपेक्षा न रखकर अवधि-ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होवे उसे गुणप्रत्यय अथवा क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान कहते हैं।

नोट - यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिये कि भवप्रत्यय अवधिज्ञान में भी अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम रहता है। पर वह क्षयोपशम देव और नरक पर्याय में नियम से प्रकट हो जाता है।

क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान के भेद और स्वामी

क्षयोपशम-निमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्॥२२॥

अर्थ - **क्षयोपशमनिमित्तः**=क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान **षड्विकल्पः**= अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित इस प्रकार छह भेदवाला है और वह **शेषाणाम्**=मनुष्य तथा तिर्यञ्चों के (भवति) होता है।

अनुगामी - जो अवधिज्ञान सूर्य के प्रकाश की तरह जीव के साथ-साथ जावे उसे अनुगामी कहते हैं। इसके ३ भेद हैं- १ क्षेत्रानुगामी, २ भवानुगामी और ३ उभयानुगामी।

अननुगामी - जो अवधिज्ञान साथ नहीं जावे उसे अननुगामी कहते हैं। इसके तीन भेद हैं- १. क्षेत्राननुगामी, २. भवाननुगामी, ३. उभयाननुगामी।

वर्द्धमान - जो शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की कलाओं की तरह बढ़ता रहे, उसे वर्द्धमान कहते हैं।

हीयमान - जो कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा की कलाओं की तरह घटता रहे, उसे हीयमान कहते हैं।

अवस्थित - जो अवधिज्ञान एकसा रहे न घटे न बढ़े, उसे अवस्थित कहते हैं। जैसे सूर्य अथवा तिल आदि के चिह्न।

अनवस्थित - जो हवा से प्रेरित जल की तरंगों की तरह घटता बढ़ता रहे- एकसा न रहे, उसे अनवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं॥२२॥

दूसरे ग्रन्थों में अवधिज्ञान के नीचे लिखे हुए तीन भेद भी बतलाये हैं- १. देशावधि, २. परमावधि, ३. सर्वावधि। इनका स्वरूप और विषय अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिये।

मनःपर्यय ज्ञान के भेद

ऋजु-विपुलमती मनःपर्ययः॥२३॥

अर्थ - **मनःपर्ययः**=मनःपर्यय ज्ञान **ऋजुविपुलमती**=ऋजुमति, विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है।

ऋजुमति - जो मन-वचन-काय की सरलता से चिन्तित दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जाने, उसे ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।

विपुलमति - जो सरल तथा कुटिलरूप पर के मन में स्थित पदार्थ को जाने, उसे विपुलमति मनःपर्ययज्ञान कहते हैं॥२३॥

ऋजुमति और विपुलमति में अन्तर

विशुद्ध्य-प्रतिपाताभ्यां तद्-विशेषः ॥२४॥

अर्थ - **विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्याम्**=परिणामों की शुद्धता और अप्रतिपात अर्थात् केवल ज्ञान होने के पहले नहीं छूटना, इन दो बातों से **तद्विशेषः**=ऋजुमति और विपुलमति में विशेषता है।

भावार्थ - ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति में आत्मा के भावों की शुद्धता अधिक होती है। तथा ऋजुमति होकर छूट भी जाता है, पर विपुलमति केवलज्ञान के पहले नहीं छूटता। दोनों भेदों में मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा हीनाधिकता रहती है॥२४॥

अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान में विशेषता

विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-विषयेभ्योऽवधि-मनःपर्याययोः ॥२५॥

अर्थ - **अवधिमनःपर्याययोः**=अवधि और मनःपर्यय ज्ञान में **विशुद्धिक्षेत्र-स्वामिविषयेभ्यः**=विशुद्धता, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा [विशेषः भवति] विशेषता होती है।

भावार्थ - विशुद्धि आदि की न्यूनाधिकता से अवधि और मनःपर्ययज्ञान में भेद होता है॥२५॥

मति और श्रुतज्ञान का विषय

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु॥२६॥

अर्थ - **मतिश्रुतयोः**=मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का **निबन्धः**=विषयसम्बन्ध **असर्वपर्यायेषु**=सब पर्यायों से रहित **द्रव्येषु**=जीव पुद्गल आदि सब द्रव्यों में **[अस्ति]** है।

भावार्थ - इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न हुए मति और श्रुतज्ञान रूपी-अरूपी सभी द्रव्यों को जानते हैं पर उनकी सब पर्यायों को नहीं जान पाते। इसलिये उनका विषय-सम्बन्ध द्रव्यों की कुछ पर्यायों के साथ होता है॥२६॥

अवधिज्ञान का विषय

रूपिष्ववधेः ॥२७॥

अर्थ - **अवधेः**=अवधिज्ञान का विषय-सम्बन्ध **रूपिषु**=रूपी द्रव्यों में है अर्थात्

अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को जानता है॥२७॥

मनःपर्यय ज्ञान का विषय

तदनन्त-भागे मनः पर्ययस्य॥२८॥

अर्थ - **तदनन्तभागे**=सर्वावधि ज्ञान के विषयभूत रूपी द्रव्य के अनन्तवें भाग में **मनःपर्ययस्य**=मनःपर्यय ज्ञान का विषय सम्बन्ध है।

भावार्थ - सर्वावधि जिस रूपी द्रव्य को जानता है, उससे बहुत सूक्ष्म रूपी द्रव्य को मनःपर्यय ज्ञान जानता है॥२८॥

केवलज्ञान का विषय

सर्व-द्रव्य-पर्यायेषु केवलस्य॥२९॥

अर्थ - **केवलस्य**=केवलज्ञान का विषय सम्बन्ध **सर्वद्रव्यपर्यायेषु**=सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायों में है। अर्थात् केवलज्ञान एक साथ सब पदार्थों को जानता है॥२९॥

एक जीव के एक साथ कितने ज्ञान हो सकते हैं?

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः॥३०॥

अर्थ - **एकस्मिन्**=एक जीव में **युगपत्**=एक साथ **एकादीनि**=एक को आदि लेकर **आचतुर्भ्यः**=चार ज्ञान तक **भाज्यानि**=विभक्त करने के योग्य हैं अर्थात् हो सकते हैं।

भावार्थ - यदि एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है। दो हों तो मति, श्रुत होते हैं। तीन हों तो मति, श्रुत, अवधि अथवा मति, श्रुत और मनःपर्यय होते हैं। यदि चार हों तो मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञान होते हैं। एक साथ पाँचों ज्ञान किसी भी जीव के नहीं होते। प्रारम्भ के चार ज्ञान तद् तद् ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होते हैं और अन्त का केवलज्ञान ज्ञानावरणकर्म के आत्यन्तिक क्षय से होता है॥३०॥

मति, श्रुत और अवधिज्ञान में मिथ्यापन

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च॥३१॥

अर्थ - **मतिश्रुतावधयः**=मति श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान **विपर्ययाःच**=

विपर्यय भी होते हैं। ऊपर कहे हुए पाँचों ज्ञान सम्यग्ज्ञान होते हैं परन्तु मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्या ज्ञान भी होते हैं। इन्हें क्रम से कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधि ज्ञान (विभङ्गावधि) कहते हैं।

नोट - इन तीन ज्ञानों में मिथ्यापन मिथ्यादर्शन के संसर्ग से होता है। जैसे मीठे दूध में कडुआपन कडुवी तूंबड़ी के संसर्ग से होता है॥३१॥

प्रश्न - जिस प्रकार पदार्थों को सम्यग्दृष्टि जानता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी जानता है, फिर सम्यग्दृष्टि का ज्ञान सम्यग्ज्ञान और मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मिथ्या ज्ञान क्यों कहलाता है?

उत्तर -

सद-सतो-रविशेषाद्-यदृच्छोप-लब्धे-रुन्मत्तवत् ॥३२॥

अर्थ - **यदृच्छोपलब्धेः** = अपनी इच्छानुसार जैसा तैसा जानने के कारण, **सदसतोः**=सत् और असत् पदार्थों में, **अविशेषात्** = विशेष ज्ञान न होने से, **उन्मत्तवत्** = पागल पुरुष के ज्ञान की तरह मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मिथ्याज्ञान ही होता है।

भावार्थ - जैसे पागल पुरुष जब स्त्री को स्त्री और माता को माता समझ रहा है तब भी उसका ज्ञान मिथ्या ज्ञान कहलाता है, क्योंकि उसके माता और स्त्री के बीच में कोई स्थिर अन्तर नहीं है। वैसे ही मिथ्यादृष्टि जब पदार्थ को ठीक जान रहा है तथापि सत् असत् का निर्णय नहीं होने से उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान ही कहलाता है॥३२॥

नयों के भेद

नैगम-संग्रह-व्यवहार-र्जुसूत्र-शब्द-समभिरूढै-वंभूता नयाः॥३३॥

अर्थ - नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये सात नय हैं।

नैगम नय - जो नय अनिष्पन्न अर्थ के संकल्प मात्र को ग्रहण करता है वह नैगम नय है। जैसे-लकड़ी, पानी आदि सामग्री इकट्ठी करने वाले पुरुष से कोई पूछता है कि आप क्या कर रहे हैं। तब वह उत्तर देता है कि रोटी बना रहा हूँ। यद्यपि उस समय वह रोटी नहीं बना रहा था तथापि नैगम नय उसके इस उत्तर को

सत्यार्थ मानता है।

संग्रह नय - जो नय अपनी जाति का विरोध न करते हुए एकपने से समस्त पदार्थों को ग्रहण करता है, उसे संग्रह नय कहते हैं। जैसे सत्, द्रव्य, घट इत्यादि।

व्यवहार नय - जो नय संग्रह नय के द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों के विधिपूर्वक भेद करता है वह व्यवहार नय है। जैसे सत् दो प्रकार का है- द्रव्य और गुण। द्रव्य के ६ भेद हैं- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। गुण के दो भेद हैं- सामान्य और विशेष। इस तरह यह नय वहाँ तक भेद करता जाता है, जहाँ तक भेद हो सकते हैं।

ऋजुसूत्र नय - जो सिर्फ वर्तमानकाल के पदार्थों को ग्रहण करे उसे ऋजुसूत्र नय कहते हैं।

शब्द नय - जो नय लिंग, संख्या, कारक आदि के व्यभिचार को दूर करता है वह शब्द नय है। यह नय लिंगादि के भेद से पदार्थ को भेदरूप ग्रहण करता है। जैसे दार (पुं.) भार्या (स्त्री.) कलत्र (न.) ये तीनों शब्द भिन्न लिंग वाले होकर भी एक ही स्त्री पदार्थ के वाचक हैं पर यह नय स्त्री पदार्थ को लिंग के भेद से तीन भेद रूप मानता है।

समभिरूढ़ नय - जो नय नाना अर्थ को उल्लंघन कर एक अर्थ को रूढ़ि से ग्रहण करता है, उसे समभिरूढ़ नय कहते हैं। जैसे वचन आदि अनेक अर्थों का वाचक गो शब्द किसी प्रकरण में गाय अर्थ का वाचक होता है। यह नय पदार्थ के भेद से अर्थ को भी भेदरूप ग्रहण करता है। जैसे इन्द्र, शक्र, पुरन्दर ये तीनों शब्द इन्द्र के नाम हैं, पर यह नय इन तीनों के भिन्न-२ अर्थ ग्रहण करता है।

एवंभूत नय - जिस शब्द का जिस क्रियारूप अर्थ है उसी क्रियारूप परिण ामते हुए पदार्थ को जो नय ग्रहण करता है उसे एवंभूत नय कहते हैं। जैसे पुजारी को पूजा करते समय ही पुजारी कहना।

इति श्री उमास्वामि विरचिते मोक्षशास्त्रे प्रथमोऽध्यायः ।।1।।

द्वितीय अध्याय

जीव के असाधारण भाव

औपशमिक-क्षायिकौ-भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्व-मौदयिक-पारिणामिकौ च ॥ १ ॥

अर्थ - जीवस्य = जीव के, **औपशमिकक्षायिकौ** = औपशमिक और क्षायिक, **भावौ** = भाव, **च मिश्रः** = और मिश्र तथा, **औदयिकपारिणामिकौ च** = औदयिक और परिणामिक ये पाँचों ही भाव, **स्वतत्त्वम्** = निज के भाव हैं अर्थात् जीव को छोड़कर अन्य किसी में नहीं पाये जाते।

उपशम तथा औपशमिक भाव - द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से कर्म की शक्ति के प्रकट न होने को उपशम कहते हैं और कर्मों के उपशम से आत्मा का जो भाव होता है, उसे औपशमिक भाव कहते हैं। जैसे निर्मली के संयोग से पानी की कीचड़ नीचे बैठ जाती है और पानी साफ हो जाता है।

क्षय तथा क्षायिक भाव - कर्मों के समूल विनाश होने को क्षय कहते हैं। जैसे पूर्व उदाहरण में जो कीचड़ नीचे बैठ गयी थी, उस कीचड़ का बिल्कुल अलग हो जाना। कर्मों के क्षय से जो भाव होता है, उसे क्षायिक भाव कहते हैं।

क्षयोपशम तथा क्षायोपशमिक (मिश्र) भाव-सर्वघातिस्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय तथा उन्हीं के आगामी काल में उदय आने वाले जो निषेक उनका सद्वस्थारूप उपशम और देशघातिस्पर्द्धकों के उदय होने को क्षयोपशम कहते हैं, जैसे पानी की स्वच्छता को बिल्कुल नष्ट करने वाले कीचड़ के परमाणुओं के नीचे बैठ जाने तथा कुछ हल्के कीचड़ के परमाणुओं के मिले रहने पर पानी में स्वच्छास्वच्छ अवस्था होती है। कर्मों के क्षयोपशमसे जो भाव होता है उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

उदय तथा औदयिक भाव - स्थिति को पूरी करके कर्मों के फल देने को उदय कहते हैं और कर्मों के उदय से जो भाव होता है, उसे औदयिक भाव कहते हैं।

पारिणामिक भाव - जो भाव कर्मों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम तथा उदय की अपेक्षा न रखता हुआ आत्मा का स्वभाव मात्र हो, उसे पारिणामिक भाव कहते हैं॥१॥

भावों के भेद

द्वि-नवाष्टा-दशैक-विंशति-त्रि-भेदा यथा-क्रमम् ॥२॥

अर्थ - ऊपर कहे हुए पाँचों भाव, **यथाक्रमम्** = क्रम से, **द्विनवाष्टादशैक-विंशतित्रिभेदाः** = दो, नव, अठारह, इक्कीस और तीन भेद वाले हैं।

औपशमिक भाव के दो भेद

सम्यक्त्व-चारित्रे ॥३॥

अर्थ - औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ये दो औपशमिक भाव के भेद हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व - अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व प्रकृति इन सात प्रकृतियों के उपशम से जो सम्यक्त्व होता है, उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

औपशमिक चारित्र - अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों के उपशम से जो चारित्र होता है, उसे औपशमिक चारित्र कहते हैं॥३॥

क्षायिकभाव के नौ भेद

ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणि च॥४॥

अर्थ - केवल ज्ञान, केवल दर्शन, क्षायिकदान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य तथा चकार से क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र ये नव क्षायिक भाव के भेद हैं।

केवल ज्ञान - जो ज्ञानावरण कर्म के क्षय से हो।

केवल दर्शन - जो दर्शनावरण कर्म के क्षय से हो।

क्षायिकदान आदि पाँच भाव - अन्तराय कर्म के ५ भेदों के क्षय से होते हैं।

क्षायिक सम्यक्त्व - जो ऊपर कही हुई सात प्रकृतियों के क्षय से हो।

क्षायिक चारित्र - जो ऊपर कही हुई २१ प्रकृतियों के क्षय से हो।

क्षायोपशमिक (मिश्र) भाव के अठारह भेद

ज्ञाना-ज्ञान-दर्शन-लब्धयश्-चतुस्-त्रि-त्रि-पञ्च भेदाः
सम्यक्त्व चारित्र-संयमा-संयमाश्च॥५॥

अर्थ - ४ क्षायोपशमिक ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय), ३ क्षायोपशमिक अज्ञान (कुमति, कुश्रुत और कुअवधि), ३ क्षायोपशमिक दर्शन (चक्षु, अचक्षु और अवधि), ५ क्षायोपशमिक लब्धियाँ (दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य) तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र और संयमासंयम ये १८ क्षायोपशमिक भाव के भेद हैं।

औदयिक भाव के इक्कीस भेद

गति-कषाय-लिङ्ग-मिथ्यादर्शना-ज्ञाना-संयतासिद्ध-लेश्याश्चतुश्

चतुस्त्र्ये-कैकैकैक-षड्भेदाः ॥६॥

अर्थ - ४ गतियाँ, ४ कषायें, ३ लिंग (वेद), मिथ्या दर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व और ६ लेश्यायें ये २१ औदयिक भाव के भेद हैं।

पारिणामिक भाव के २ भेद आगे बताते हैं

जीव-भव्या-भव्यत्वानि च ॥७॥

अर्थ - जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये ३ पारिणामिक भाव हैं।

नोट - सूत्र में दिये गये 'च' शब्द से अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व आदि भावों को ग्रहण किया गया है अर्थात् ये भी पारिणामिक भाव हैं। ये भाव अन्य द्रव्यों में भी पाये जाते हैं। इसलिये जीव के असाधारण भाव न होने से सूत्र में इन भावों को नहीं कहा है।

जीव का लक्षण

उपयोगो लक्षणम् ॥८॥

अर्थ - जीव का लक्षण उपयोग है।

नोट - बाह्य और अभ्यन्तर निमित्तों के कारण आत्मा के चैतन्य स्वरूप का जो ज्ञान और दर्शन रूप परिणमन होता है उसे उपयोग कहते हैं।

उपयोग के कितने भेद हैं ? यह बताते हैं

स द्वि-विधोऽष्ट-चतुर्भेदः ॥९॥

अर्थ - वह उपयोग मूलरूप से ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के भेद से २ प्रकार का है। ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं, यथा-मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल,

कुमति, कुश्रुत और कुअवधि। दर्शनोपयोग के चार भेद हैं यथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि दर्शन और केवल दर्शन।

जीव कितने प्रकार के हैं

संसारिणो मुक्ताश्च ॥१०॥

अर्थ - संसारी और मुक्त के भेद से जीव दो प्रकार के हैं।

संसारी जीव के भेद

समनस्काऽमनस्काः ॥११॥

अर्थ - संसारी जीव समनस्क = सैनी और अमनस्क = असैनी के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

समनस्क = मनसहित जीव।

अमनस्क = मनरहित जीव॥११॥

संसारी जीवों के अन्य प्रकार से भेद

संसारिणस्-त्रस-स्थावराः ॥१२॥

अर्थ - **(संसारिणः)** संसारी जीव **(त्रसस्थावराः)** त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं।

स्थावरों के भेद

पृथि-व्यप्-तेजो वायु वनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

अर्थ - पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पाँच प्रकार के स्थावर हैं। इनके एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है।

स्थावर - स्थावर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई जीव की अवस्था विशेष को स्थावर कहते हैं॥१३॥

त्रस जीवों के भेद

द्वीन्द्रियादयस्-त्रसाः ॥१४॥

अर्थ - द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव त्रस कहलाते हैं।

त्रस - त्रस नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई जीव की अवस्था विशेष को त्रस कहते हैं॥१४॥

इन्द्रियों की गणना

पञ्चेन्द्रियाणि ॥१५॥

अर्थ - सब इन्द्रियाँ पाँच हैं।

इन्द्रिय - जिनसे जीव की पहिचान हो, उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं॥१५॥

इन्द्रियों के कितने भेद हैं ?

द्वि-विधानि ॥१६॥

अर्थ - सब इन्द्रियाँ द्रव्य इन्द्रिय और भावइन्द्रिय के भेद से दो प्रकार की हैं।

द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप

निर्वृत्युप-करणे द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥

अर्थ - निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

निवृत्ति - पुद्गलविपाकी नामकर्म के उदय से निर्वृत्त-रची गई नियत संस्थान वाली पुद्गल की रचना विशेष को निर्वृत्ति कहते हैं। इसके २ भेद हैं- १ आभ्यन्तर निर्वृत्ति २ बाह्य निर्वृत्ति। उत्सेधांगुल के असंख्येय भाग प्रमाण शुद्ध आत्मा के प्रदेशों का चक्षु आदि इन्द्रियों के आकार जो परिणमन होता है, उसे आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहा है तथा इन्द्रिय व्यपदेश को प्राप्त हुए आत्मा के उन प्रदेशों में नाम कर्म के उदय से चक्षु आदि इन्द्रियों के आकार परिणत जो पुद्गल प्रचय हैं, उसे बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं।

उपकरण - जो निर्वृत्ति का उपकार करे उसे उपकरण कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं- १ आभ्यन्तर उपकरण और २ बाह्य उपकरण। जैसे चक्षु इन्द्रिय में जो कृष्ण शुक्ल मण्डल है, वह आभ्यन्तर उपकरण है और पलकें तथा रोम आदि बाह्य उपकरण हैं॥१७॥

भाव इन्द्रिय का स्वरूप

लब्ध्युप-योगौ भावेन्द्रियम ॥१८॥

अर्थ - लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं।

लब्धि - ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं।

उपयोग - जिसके निमित्त से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की निर्वृत्ति के प्रति व्यापार

करता है, उसे उपयोग कहते हैं॥१८॥

पाँच इन्द्रियों के नाम

स्पर्शनरसनाघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि॥१९॥

अर्थ - स्पर्शन (त्वचा) रसना (जीभ), घ्राण (नाक), चक्षु (आँख) और श्रोत्र (कान) ये पाँच इन्द्रियाँ हैं॥१९॥

इन्द्रियों के विषय

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः॥२०॥

अर्थ - **तदर्थाः**=ऊपर कही हुई पाँच इन्द्रियों के **स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः**=स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये पाँच क्रम से विषय हैं। अर्थात् उक्त इन्द्रियाँ इन विषयों को जानती हैं॥२०॥

मन का विषय

श्रुत-मनिन्द्रियस्य ॥२१॥

अर्थ - **(अनिन्द्रियस्य)** मनका विषय **(श्रुतम्)** श्रुतज्ञान-गोचर पदार्थ है। अथवा मनका प्रयोजन श्रुतज्ञान है॥२१॥

इन्द्रियों के स्वामी

वनस्पत्यन्ताना-मेकम्॥२२॥

अर्थ - **वनस्पत्यन्तानाम्**=वनस्पति काय है, अन्त में जिनके ऐसे जीवों के अर्थात् पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों के **एकम्**=एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है॥२२॥

कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीना-मेकैक-वृद्धानि॥२३॥

अर्थ - लट आदि, चींटी आदि, भौंरा आदि तथा मनुष्य आदि के क्रम से एक एक इन्द्रिय बढ़ती हुई है। अर्थात् लट आदि के प्रारम्भ की दो, चींटी आदि के तीन, भौंरा आदि के चार और मनुष्य आदि के पाँच इन्द्रियाँ होती हैं॥२३॥

समनस्क की परिभाषा

संज्ञिनः समनस्काः॥२४॥

अर्थ - **समनस्काः**=मन सहित जीव **संज्ञिनः**=संज्ञी कहलाते हैं।

संज्ञा – हित अहित की परीक्षा तथा गुण-दोष का विचार वा स्मरणादिक करने को संज्ञा कहते हैं॥२४॥

प्रश्न – जबकि जीवों की हिताहित में प्रवृत्ति मन की सहायता से ही होती है, तब वे विग्रहगति में मन के बिना भी नवीन शरीर की प्राप्ति के लिये गमन क्यों करते हैं?

उत्तर –

विग्रह-गतौ कर्म-योगः ॥२५॥

अर्थ – **विग्रहगतौ**=विग्रह गति में **कर्मयोगः**=कार्माण काय योग होता है। उसी की सहायता से जीव एक गति से दूसरी गति में गमन करता है।

विग्रहगति – एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर की प्राप्ति के लिये गमन करना सो विग्रहगति है।

कर्मयोग – ज्ञानावरणादि कर्मों के समूह को कार्मण कहते हैं। उनके निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो हलन चलन होता है, उसे कर्मयोग अथवा कार्मणयोग कहते हैं॥२५॥

गमन किस प्रकार होता है?

अनुश्रेणि गतिः ॥२६॥

अर्थ – **गतिः**=जीव और पुद्गल का गमन **अनुश्रेणि**=श्रेणी के अनुसार होता है।

श्रेणी – लोक के मध्यभाग से ऊपर, नीचे तथा तिर्यक् दिशा में क्रम से सन्निवेश (रचना) को प्राप्त हुए आकाश-प्रदेशों की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं।

नोट – जो जीव मरकर दूसरे शरीर के लिये विग्रहगति में गमन करता है, उसी का गमन विग्रह गति में श्रेणी के अनुसार होता है, अन्य का नहीं। इसी तरह जो पुद्गल का शुद्ध परमाणु एक समय में चौदह राजु गमन करता है, उसी का श्रेणी के अनुसार गमन होता है, सब पुद्गलों का नहीं।

मुक्त जीवों की गति

अविग्रहा जीवस्य ॥२७॥

अर्थ – **जीवस्य**=मुक्त जीव की गति **अविग्रहा**=वक्रता रहित सीधी होती है।

भावार्थ – श्रेणी के अनुसार होने वाली गति के दो भेद हैं। १ विग्रहवती (जिसमें मुड़ना पड़े) और २ अविग्रहा (जिसमें मुड़ना न पड़े)। इनमें से कर्मों का

क्षय कर सिद्धशिला के प्रति गमन करने वाले जीवों के अविग्रह गति होती है॥२७॥

संसारी जीवों की गति और समय

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः॥२८॥

अर्थ - **संसारिणः**=संसारी जीव की गति **चतुर्भ्यः प्राक्**=चार समय से पहले **विग्रहवती च**=विग्रहवती और अविग्रहा दोनों प्रकार की होती है।

भावार्थ - संसारी जीव की गति मोड़ा रहित भी होती है और मोड़ा सहित भी। जो मोड़ा रहित होती है उसमें एक समय लगता है। जिसमें एक मोड़ा लेना पड़ता है, उसमें दो समय, जिसमें दो मोड़ा लेना पड़ते हैं, उसमें तीन समय और जिसमें तीन मोड़ा लेना पड़ते हैं, उसमें चार समय लगते हैं, पर यह जीव चौथे समय में कहीं न कहीं नवीन शरीर नियम से धारण कर लेता है, इसलिये विग्रह गति का समय चार समय के पहले पहले तक कहा गया है।

अविग्रह गति का समय

एक समयाऽविग्रहा॥२९॥

अर्थ - **अविग्रहा**=मोड़ा रहित गति **एकसमया**=एक समय मात्र ही होती है अर्थात् उसमें एक समय ही लगता है॥२९॥

विग्रहगति में आहारक अनाहारक की व्यवस्था

एकं द्वौ त्रीन्-वा-नाहारकः॥३०॥

अर्थ - विग्रह गति में जीव **एकं द्वौ त्रीन्वा**=एक, दो या तीन समय तक **अनाहारकं**=अनाहारक रहता है।

आहारक - औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीर तथा ६ पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल परमाणुओं के ग्रहण को आहारक कहते हैं।

भावार्थ - जब तक जीव ऊपर कहे हुए आहार को ग्रहण नहीं करता तब तक वह अनाहारक कहलाता है। संसारी जीव अविग्रह गति में आहारक ही होता है। किन्तु एक, दो और तीन मोड़ावाली गतियों में क्रम से एक दो और तीन समय तक अनाहारक रहता है। चौथे समय में नियम से आहारक हो जाता है॥३०॥

जन्म के भेद

सम्मूर्च्छन गर्भोपपादा जन्म ॥ ३१ ॥

अर्थ - **जन्म** = जन्म, **सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा** = सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद के भेद से तीन प्रकार का होता है।

सम्मूर्च्छन जन्म - अपने शरीर के योग्य पुद्गल परमाणुओं के द्वारा माता-पिता के रज और वीर्य के बिना ही अवयवों की रचना होने को सम्मूर्च्छन जन्म कहते हैं।

गर्भजन्म - स्त्री के उदर में रज और वीर्य के मिलने से जो जन्म होता है, उसे गर्भ जन्म कहते हैं।

उपपाद जन्म - माता-पिता के रज और वीर्य के बिना देव-नारकियों के निश्चित स्थान-विशेष पर उत्पन्न होने को उपपाद जन्म कहते हैं॥३१॥

योनियों के भेद

सचित्त-शीत-संवृताः सेतरा मिश्राश्-चैकशस्-तद्-योनयः ॥ ३२ ॥

अर्थ - **सचित्तशीतसंवृताः** = सचित्त, शीत, संवृत **सेतराः** = इनसे उल्टी तीन अचित्त, उष्ण, विवृत, **च** = और, **एकशः** = एक-एक कर, **मिश्रा** = क्रम से मिली हुई तीन सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, संवृतविवृत ये नौ, **तद्योनयः** = सम्मूर्च्छन आदि जन्मों की योनियाँ हैं।

सचित्तयोनि - जीव सहित योनि को सचित्तयोनि कहते हैं।

संवृतयोनि - जो किसी के देखने में न आवे ऐसे जीव के उत्पत्ति स्थान को संवृतयोनि कहते हैं।

विवृतयोनि - जो सबके देखने में आवे उस उत्पत्तिस्थान को विवृतयोनि कहते हैं। शेष योनियों का अर्थ स्पष्ट है॥३२॥

किस योनि में कौन जीव जन्म लेते हैं इसका खुलासा

जीव		योनि
देव और नारकी	-	अचित्त
गर्भज मनुष्य और तिर्यञ्च	-	मिश्र-सचित्ताचित्त
शेष सम्मूर्च्छन जन्म वाले अर्थात्	-	त्रिविधयोनि-सचित्त,

(पाँचों स्थावर, तीनों विकलत्रय, सम्मूर्च्छन-पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च और मनुष्य)		अचित्त और मिश्र
देव और नारकी	–	शीत और उष्ण योनि
अग्निकाय	–	उष्ण योनि
शेष सब अर्थात् सब मनुष्य	–	त्रिविध योनि-शीत, उष्ण
अग्निकाय के सिवा चारों स्थावरकाय, विकलत्रय सब पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च		और शीतोष्ण
देव, नारकी और एकेन्द्रिय	–	संवृत
विकलेन्द्रिय व सम्मूर्च्छन पञ्चेन्द्रिय	–	विवृत
गर्भज	–	मिश्र

गर्भ जन्म किसके होता है?

जरायु-जाण्डज पोतानां गर्भः ॥३३॥

अर्थ - जरायुज, अण्डज और पोत इन तीन प्रकार के प्राणियों के गर्भजन्म ही होता है। अथवा गर्भ जन्म उक्त जीवों के ही होता है।

जरायुज - जाल के समान मांस और खून से व्याप्त एक प्रकार की थैली लिपटे हुए जो जीव पैदा होते हैं, उन्हें जरायुज कहते हैं- जैसे- गाय, भैंस, मनुष्य आदि।

अण्डज - जो जीव अण्डे से उत्पन्न हों, उन्हें अण्डज कहते हैं, जैसे चील, कबूतर आदि पक्षी।

पोत - पैदा होते समय जिन जीवों पर किसी प्रकार का आवरण नहीं हो और जो पैदा होते ही चलने फिरने लग जावें, उन्हें पोत कहते हैं, जैसे- हरिण, सिंह आदि॥३३॥

उपपाद जन्म किसके होता है?

देव-नारकाणा-मुपपादः ॥३४॥

अर्थ - **देवनारकाणाम्** = देव और नारकियों के, **उपपाद** = उपपाद जन्म ही होता है अथवा उपपाद जन्म देव और नारकियों के ही होता है ॥३४॥

सम्मूर्च्छन जन्म किसके होता है?

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥३५॥

अर्थ - **शेषाणाम्** = गर्भ और उपपाद जन्म वालों से बाकी बचे हुए जीवों के, **सम्मूर्च्छनम्** = सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है अथवा सम्मूर्छन जन्म शेष जीवों के ही होते हैं।

नोट - एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रियों तक का नियम से सम्मूर्च्छन जन्म होता है। बाकी तिर्यंचों के गर्भ और सम्मूर्च्छन दोनों होते हैं। लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों का भी सम्मूर्च्छन जन्म होता है॥३५॥

शरीरों के नाम व भेद

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि॥३६॥

अर्थ - औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण ये पाँच शरीर हैं।

औदारिक शरीर - स्थूल शरीर (जो दूसरे को छेड़े और दूसरे से छिड़ सके) को औदारिक शरीर कहते हैं- यह मनुष्य और तिर्यंचों के होता है।

वैक्रियिक शरीर - जिसमें हल्के-भारी तथा कई प्रकार के रूप बनाने की शक्ति हो, उसे वैक्रियिक शरीर कहते हैं। यह देव और नारकियों के होता है। विक्रिया ऋद्धि इससे भिन्न है।

आहारक शरीर - सूक्ष्म पदार्थ के निर्णय के लिये वा संयम की रक्षा के लिये छठवें गुणस्थानवर्ती जीव के मस्तक से एक हाथ का जो सफेद रंग का पुतला निकलता है, उसे आहारक शरीर कहते हैं।

तैजस शरीर - जिसके कारण शरीर में तेज रहे उसे तैजस शरीर कहते हैं।

कार्मण शरीर - ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के समूह को कार्मण शरीर कहते हैं॥३६॥

शरीरों की सूक्ष्मता का वर्णन

परं परं सूक्ष्मम् ॥३७॥

अर्थ - पूर्व से, **परंपरम्** = आगे-आगे के शरीर, **सूक्ष्मम्** = सूक्ष्म-सूक्ष्म। अर्थात् औदारिक से वैक्रियिक, वैक्रियिक से आहारक, आहारक से तैजस और तैजस से कार्मण शरीर सूक्ष्म है॥३७॥

शरीरों के प्रदेशों का विचार

प्रदेशतोऽसंख्येय-गुणं प्राक्-तैजसात् ॥३८॥

अर्थ - **प्रदेशतः** = प्रदेशों की अपेक्षा, **तैजसात् प्राक्** = तैजस शरीर से पहले-पहले के शरीर, **असंख्येयगुणम्** = असंख्यातगुणे हैं।

भावार्थ - औदारिक शरीर की अपेक्षा असंख्यातगुणे प्रदेश (परमाणु) वैक्रियिक में हैं और वैक्रियिक की अपेक्षा असंख्यातगुणे आहारक में हैं ॥३८॥

अनन्तगुणे परे ॥३९॥

अर्थ - **परे** = बाकी के दो शरीर, **अनन्तगुणे** = अनन्तगुण परमाणु वाले हैं। अर्थात् आहारक शरीर से अनन्तगुणे परमाणु तैजस शरीर में और तैजस शरीर की अपेक्षा अनन्त- गुणे परमाणु कार्मण शरीर में हैं ॥३९॥

तैजस और कार्माण शरीर की विशेषता

अप्रतिघाते ॥४०॥

अर्थ - तैजस और कार्माण ये दोनों ही शरीर अप्रतिघात-बाधा रहित हैं अर्थात् किसी भी मूर्तिक पदार्थ से न स्वयं रुकते हैं और न किसी को रोकते हैं॥४०॥

अनादि-सम्बन्धे च ॥४१॥

अर्थ - ये दोनों शरीर आत्मा के साथ अनादिकाल से सम्बन्ध रखने वाले हैं।

नोट - यह कथन सामान्य तैजस और कार्माण की अपेक्षा है। विशेष की अपेक्षा पहले के शरीरों का संबंध नष्ट होकर उनके स्थान में नये-नये शरीरों का सम्बन्ध होता रहता है ॥४१॥

सर्वस्य ॥४२॥

अर्थ - ये दोनों शरीर समस्त संसारी जीवों के होते हैं॥४२॥

एक साथ एक जीव के कितने शरीर हो सकते हैं?

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥४३॥

अर्थ - **तदादीनि** = उन तैजस और कार्माण शरीर को आदि लेकर **युगपद्**

= एकसाथ, **एकस्य** = एक जीव के, **आचतुर्भ्यः** = चार शरीर तक, **भाज्यानि** = विभक्त करना चाहिये। अर्थात् दो शरीर हों तो तैजस और कार्मण, तीन हों तो तैजस, कार्मण और औदारिक अथवा तैजस, कार्मण और वैक्रियिक, तथा चार हों तो तैजस, कार्मण, औदारिक और वैक्रियिक (लब्धि प्रत्यय) होते हैं॥४३॥

कार्माण शरीर की विशेषता

निरुपभोग-मन्त्यम् ॥४४॥

अर्थ - **अन्त्यम्** = अन्त का कार्माण शरीर, **निरुपभोगम्** = उपभोग रहित होता है।

उपभोग - इन्द्रियों के द्वारा शब्दादिक के ग्रहण करने को उपभोग कहते हैं॥४४॥

औदारिक शरीर का लक्षण

गर्भ-सम्मूर्च्छनज-माद्यम्॥४५॥

अर्थ - **गर्भसम्मूर्च्छनजम्** = गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्म से उत्पन्न हुआ शरीर, **आद्यम्** = औदयिक शरीर कहलाता है॥४५॥

वैक्रियक शरीर का लक्षण

औपपादिकं वैक्रियिकम्॥४६॥

अर्थ - **औपपादिकम्** = उपपाद जन्म से उत्पन्न होने वाले देव-नारकियों का शरीर, **वैक्रियिकम्** = वैक्रियक कहलाता है॥४६॥

लब्धि-प्रत्ययं -च॥४७॥

अर्थ - वैक्रियिक शरीर लब्धि निमित्तक भी होता है।

लब्धि - तपोविशेष से प्राप्त ऋद्धि को लब्धि कहते हैं॥४७॥

तैजसमपि ॥४८॥

अर्थ - तैजस शरीर भी लब्धि प्रत्यय (ऋद्धिनिमित्तक) होता है।

नोट - यह तैजस शुभ-अशुभ के भेद से दो प्रकार का होता है ॥४८॥

आहारक शरीर का स्वामी व लक्षण

शुभं विशुद्ध-मव्याघाति चाहारकं प्रमत्त संयतस्यैव॥४९॥

अर्थ - **आहारकम्**=आहारक शरीर **शुभम्**=शुभ है अर्थात् शुभ कार्य को करता है **विशुद्धम्**=विशुद्ध कर्म का कार्य है **च**=और **अव्याघाति**=व्याघातबाधा रहित है तथा **प्रमत्तसंयतस्यैव**=प्रमत्तसंयत नामक छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि के ही होता है॥४९॥

लिंग (वेद) के स्वामी

नारक-सम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि॥५०॥

अर्थ - **नारक सम्मूर्च्छिनः**=नारकी और सम्मूर्च्छन जन्म वाले जीव **नपुंसकानि**=नपुंसक होते हैं॥५०॥

देवों के वेद

न-देवाः॥५१॥

अर्थ - **देवाः न**=देव नपुंसक नहीं होते। अर्थात् देवों में स्त्रीलिंग और पुरुषलिंग ये दो ही लिंग होते हैं॥५१॥

मनुष्यों और तिर्यञ्चों के वेद

शेषास्त्रिवेदाः॥५२॥

अर्थ - शेष बचे हुए मनुष्य और तिर्यंच तीनों वेदवाले होते हैं॥५२॥

अकालमृत्यु किनकी नहीं होती

औपपादिक चरमोत्तम देहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः॥५३॥

अर्थ - उपपाद जन्म वाले देव-नारकी, तद्भवमोक्षगामियों में श्रेष्ठ तीर्थंकर आदि तथा असंख्यात वर्षों की आयु वाले भोगभूमि के जीव परिपूर्ण आयु वाले होते हैं अर्थात् इन जीवों की असमय में मृत्यु नहीं होती॥५३॥

॥ इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रे द्वितीयोऽध्यायः॥

तृतीय अध्याय

अधोलोक का वर्णन (सात पृथिवियाँ-नरक)

रत्न-शर्करा-बालुका-पंक-धूम-तमो महातमः प्रभा-भूमयो
घनाम्बु-वाताकाश-प्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः ॥१॥

अर्थ - **रत्नशर्कराबालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभा** = रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंक प्रभा, धूम प्रभा, तमप्रभा और महातमप्रभा, **भूमयः**=ये भूमियाँ, **सप्त** = सात हैं और क्रम से, **अधोऽधः** = नीचे नीचे, **घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः** = घनोदधिवातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय और आकाश के आधार हैं।

विशेष - रत्नप्रभा पृथिवी के तीन भाग हैं १- खरभाग, २- पंक भाग और ३- अब्बहुल भाग। इनमें से ऊपर के दो भागों में व्यन्तर तथा भवनवासी देव रहते हैं और नीचे के अब्बहुल भाग में नारकी रहते हैं। इस पृथिवी की कुल मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन की है॥१॥

सात पृथिवीयों में नरकों (बिलों) की संख्या

तासुत्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदश-त्रिपंचोनैकनरक-
शतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम्॥२॥

अर्थ - **तासु**=उन पृथिवियों में **यथाक्रमम्**=क्रम से **त्रिंशत् पंचविंशति पंच दश दश त्रिपंचोनैकनरकशतसहस्राणि**=तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दश लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख **च**=और **पंच एव**=पाँच ही नरक-बिल हैं। ये बिल जमीन में गड़े हुये ढोल की पोल के समान होते हैं॥२॥

नारकियों के दुःख का वर्णन

नारका नित्या-शुभतर-लेश्या-परिणाम
देह-वेदना-विक्रियाः ॥३॥

अर्थ - नारकी जीव निरन्तर अशुभतर लेश्या, परिणाम, शरीर, वेदना और विक्रिया के धारक होते हैं ॥३॥

परस्परो-दीरित दुःखाः ॥४॥

अर्थ - नारकी जीव परस्पर में एक-दूसरे को दुःख उत्पन्न करते हैं- (वे क्रूर पुरुषों की तरह परस्पर में लड़ते हैं) ॥४॥

संक्लिष्टाऽसुरोदीरित-दुःखाश्च प्राक्- चतुर्थ्याः ॥५॥

अर्थ - **च** = और वे नारकी, **चतुर्थ्याः प्राक्** = चौथी पृथ्वी से पहले अर्थात् तीसरी पृथ्वी पर्यन्त, **संक्लिष्टाऽसुरोदीरितदुःखाः** = अत्यन्त संक्लिष्ट परिणामों के धारक अम्बावरीष जाति के असुर कुमार देवों के द्वारा उत्पन्न किया गया है दुःख जिनको, अर्थात् तीसरे नरक तक जाकर अम्बावरीष-असुर कुमार उन्हें पूर्व वैर का स्मरण दिलाकर आपस में लड़ाते हैं और उन्हें दुःखी देखकर हर्षित होते हैं। उनके इसी प्रकार की कषाय का उदय रहता है ॥५॥

नरकों में उत्कृष्ट आयु का प्रमाण

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रायस्त्रिंशत्सागरोपमा

सत्त्वानां परा स्थितिः ॥६॥

अर्थ - **तेषु** = उन नरकों में, **सत्त्वानां** = नारकी जीवों की, **परास्थितिः** = उत्कृष्ट स्थिति क्रम से, **एक त्रि सप्त दश सप्त दश द्वाविंशति त्रायस्त्रिंशत्सागरोपमा** = एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दस सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर और तैतीस सागर है ॥६॥

मध्यलोक का वर्णन

जम्बूद्वीप-लवणो-दादयःशुभ-नामानो द्वीप-समुद्राः ॥७॥

अर्थ - इस मध्यलोक में, **शुभनामानः** = शुभ नाम वाले, **जम्बूद्वीपलवणोदादयः द्वीपसमुद्राः** = जम्बूद्वीप आदि द्वीप और लवण समुद्र आदि समुद्र हैं।

भावार्थ - सबके बीच में थाली के आकार का जम्बूद्वीप है, उसके चारों तरफ लवण समुद्र है, उसके चारों तरफ धातकीखण्ड द्वीप है। उसके चारों तरफ कालोदधि समुद्र है, उसके चारों तरफ पुष्करवर द्वीप है, उसके चारों तरफ पुष्करवर समुद्र है। इस प्रकार एक दूसरे को घेरे हुए असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। सबसे अन्त के द्वीप का नाम स्वयंभूरमण द्वीप और स्वयंभूरमण समुद्र है॥७॥

द्वीप और समुद्रों का विस्तार और आकार

द्वि-र्द्वि-र्विष्कम्भाः पूर्व-पूर्व-परिक्षेपिणो वलया-कृतयः ॥८॥

अर्थ - प्रत्येक द्वीप समुद्र दूने-दूने विस्तार वाले, पहले पहले के द्वीप समुद्र को घेरे हुये तथा चूड़ी के समान आकार वाले हैं॥८॥

जम्बूद्वीप का विस्तार और आकार

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्र विष्कम्भो जम्बूद्वीपः॥९॥

अर्थ - **तन्मध्ये** = उन सब द्वीप समुद्रों के बीच में, **मेरुनाभिः** = सुदर्शन मेरु है नाभि जिसकी, ऐसा तथा, **वृत्तः** = थाली के समान गोल और, **योजनशतसहस्रविष्कम्भः**= एक लाख योजन विस्तार वाला, **जम्बूद्वीप** = जम्बूद्वीप **(अस्ति)** हैं॥९॥

सात क्षेत्रों के नाम

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि॥१०॥

अर्थ - इस जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं॥१०॥

षट् कुलाचल पर्वतों के नाम व अवस्थिति

तद् विभाजिनः पूर्वा-परायता हिमवन्-महाहिमवन् निषध- नील-रुक्मि-शिखरिणो वर्षधर-पर्वताः॥११॥

अर्थ - **तद्विभाजिनः** = उन सात क्षेत्रों को विभाग करने वाले, **पूर्वापरायता** = पूर्व से पश्चिम तक लम्बे, **हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणः** = हिमवन्, महाहिमवन् निषध, नील, रुक्मि और शिखरिन् ये छः, **वर्षधरपर्वताः** = वर्षधर-कुलाचल पर्वत हैं। **वर्ष** = क्षेत्र॥११॥

कुलाचलों के वर्णन

हेमार्जुन-तपनीय-वैडूर्य-रजत-हेममयाः॥१२॥

अर्थ - ऊपर कहे हुए पर्वत क्रम से सुवर्ण, चाँदी, तपा हुआ सुवर्ण, वैडूर्य, (नीलमणि), चाँदी और सुवर्ण के समान वर्ण वाले हैं॥१२॥

कुलाचलों का आकार

मणि-विचित्र-पार्श्वा-उपरि मूले च तुल्य-विस्ताराः॥१३॥

अर्थ - वे पर्वत, **मणिविचित्रपार्श्वाः** = कई तरह के मणियों से चित्रविचित्र हैं तट जिनके ऐसे तथा, **उपरि मूलं च** = ऊपर नीचे और मध्य में, **तुल्यविस्ताराः** = एक समान विस्तार वाले हैं॥१३॥

कुलाचलों पर स्थित सरोवर के नाम

पद्म-महापद्म-तिगिंछ-केशरि-महा-पुण्डरीक-
पुण्डरीका ह्रदास्-तेषामुपरि॥१४॥

अर्थ - **तेषाम् उपरि** = उन पर्वतों के ऊपर क्रम से, **पद्म महापद्मतिगिंच्छ केशरि महापुण्डरीक पुण्डरीका ह्रदाः** = पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केशरिन्, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नाम के ह्रद-सरोवर हैं॥१४॥

प्रथम सरोवर की लम्बाई चौड़ाई

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः॥१५॥

अर्थ - **प्रथमोह्रदः** = पहला सरोवर, **योजनसहस्रायामः** = एक हजार योजन लम्बा और, **तदर्द्धविष्कम्भः** = लम्बाई से आधा अर्थात् पाँच सौ योजन विस्तार वाला है॥१५॥

प्रथम सरोवर की गहराई

दशयोजनावगाहः॥१६॥

अर्थ - पहला सरोवर दस महा योजन गहरा है ॥१६॥

उसके मध्य में क्या है?

तन्मध्ये योजनं पुष्करम्॥१७॥

अर्थ - उसके बीच में एक योजन विस्तार का कमल है॥१७॥

महापद्म आदि सरोवर तथा उनमें रहने वाले कमलों का प्रमाण

तद्-द्वि-गुण-द्वि-गुणा-ह्रदाः पुष्कराणि च॥१८॥

अर्थ - आगे के सरोवर और कमल क्रम से प्रथम सरोवर तथा उसके कमल से दूने-दूने विस्तार वाले हैं।

नोट - यह दूने दूने का क्रम तिगिञ्छ नामक तीसरे सरोवर तक ही है। उसके आगे के तीन सरोवर और तीन कमल दक्षिण के सरोवर और कमलों के समान विस्तार वाले हैं॥१८॥

कमलों में रहने वाली छह देवियाँ

तन्-निवासिन्यो देव्यः श्री-ह्री-धृति-कीर्ति- बुद्धि-लक्ष्म्यः

पल्योपम-स्थितयः ससामानिक परिषत्काः ॥१९॥

अर्थ - **पल्योपमस्थितयः** = एक पल्य की आयु वाली तथा, **ससामानिकपरिषत्काः** = सामानिक और पारिषद जाति के देवों से सहित, **श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्मयः** = श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नाम की, **देव्यः** = देवियाँ क्रम से, **तन्निवासिन्यः** = उन सरोवरों के कमलों पर निवास करती हैं ॥१९॥

चौदह महानदियों के नाम

गंगा सिन्धु रोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्ता-सीता-सीतोदा-नारीनरकान्ता-सुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥

अर्थ - गंगा-सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हरित्-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी, नरकान्ता सुवर्णकूला-रूप्यकूला और रक्ता-रक्तोदा ये चौदह नदियाँ जम्बूद्वीप के पूर्वोक्त सात क्षेत्रों के बीच में बहती हैं।

विशेष - पहले पद्म और छठवें पुण्डरीक नामक सरोवर से क्रम से आदि और अन्त की तीन तीन नदियाँ निकली हैं तथा बाकी के सरोवरों से दो-दो नदियाँ निकली हैं। नदियों और क्षेत्र का क्रम इस प्रकार है- भरत में - गंगा सिन्धु, हैमवत में - रोहित रोहितास्या, हरि में - हरित् हरिकान्ता, विदेह में - सीता सीतोदा, रम्यक् में नारी नरकान्त, हैरण्यवत् में - सुवर्णकूला रुप्यकूला और ऐरावत में - रक्ता रक्तोदा नदियाँ बहती हैं॥२०॥

नदियों के बहने का क्रम

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥

अर्थ - सूत्र के क्रमानुसार **द्वयोर्द्वयोः**=गंगा-सिन्धु इत्यादि दो-दो नदियों में से **पूर्वाः**=प्रथम नाम वाली नदियाँ **पूर्वगाः**=पूर्वसमुद्र में जाती हैं। जैसे गंगा-सिंधु में गंगा आदि॥२१॥

शेषास्-त्व-परगाः ॥२२॥

अर्थ - बाकी बची हुई सात नदियाँ पश्चिम की ओर जाती हैं। जैसे गंगा-सिन्धु में सिन्धु आदि॥२२॥

महा नदियों की सहायक नदियाँ

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता-गंगासिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥

अर्थ - गंगा-सिन्धु आदि नदियों के युगल चौदह हजार सहायक नदियों से घिरे हुए है।

नोट - सहायक नदियों का क्रम भी विदेहक्षेत्र तक आगे आगे के युगलों में पूर्व के युगलों से दूना-दूना है। और उत्तर के तीन क्षेत्रों में दक्षिण के तीन क्षेत्रों के समान है॥२३॥

नदी युगल	**सहायक नदी संख्या**
गंगा-सिन्धु	१४ हजार
रोहित्-रोहितास्या	२८ हजार
हरित्-हरिकान्ता	५६ हजार
सीता-सीतोदा	१ लाख बारह हजार
नारी-नरकान्ता	५६ हजार
सुवर्णकूला-रूप्यकूला	२८ हजार
रक्ता-रक्तोदा	१४ हजार

भरतक्षेत्र का विस्तार

भरतः षड्-विंशति-पञ्च-योजन-शत-विस्तारः षट्चैकोन-विंशति-भागा योजनस्य॥२४॥

अर्थ - **भरतः** = भरतक्षेत्र, **षड्विंशतिपञ्चयोजनशतविस्तारः** = पाँच सौ छब्बीस योजन विस्तार वाला, **च** = और, **योजनस्य** = एक योजन के **एकोनविंशतिभागा** = उन्नीस भागों से, **षट्** = छह भाग अधिक है।

भावार्थ - भरतक्षेत्र का विस्तार ५२६ ६/१९ योजन है॥२४॥

आगे के क्षेत्र और पर्वतों का विस्तार

तद्-द्वि-गुण-द्वि-गुण-विस्तारा वर्षधर-वर्षा विदेहान्ताः॥२५॥

अर्थ - **विदेहान्ताः** = विदेहक्षेत्र पर्यन्त के, **वर्षधरवर्षा** = पर्वत और क्षेत्र, **तद्द्विगुणद्विगुणाः** = भरत क्षेत्र से दूने-दूने विस्तार वाले हैं॥२५॥

विदेह क्षेत्र के आगे के पर्वत और क्षेत्रों का विस्तार

उत्तरा-दक्षिण-तुल्याः॥२६॥

अर्थ - विदेह क्षेत्र से उत्तर के तीन पर्वत और तीन क्षेत्र दक्षिण के पर्वत और क्षेत्रों के समान विस्तार वाले हैं।

भरत और ऐरावत क्षेत्र में काल परिवर्तन

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामु-त्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्॥२७॥

अर्थ - **षट्समयाभ्याम्** = छह कालों से युक्त, **उत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्** = उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के द्वारा, **भरतैरावतयोः** = भरत और ऐरावत क्षेत्र में जीवों को अनुभव आदि की, **वृद्धिह्रासौ** = वृद्धि तथा न्यूनता होती रहती है।

भावार्थ - बीस कोड़ा-कोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है। उसके दो भेद हैं-

१. उत्सर्पिणी - जिसमें जीवों के ज्ञान आदि की वृद्धि होती है।

२. अवसर्पिणी - जिसमें जीवों के ज्ञान आदि का ह्रास होता। अवसर्पिणी के छह भेद हैं- १. सुषमासुषमा, २. सुषमा, ३. सुषमादु:षमा, ४. दु:षमासुषमा, ५. दु:षमा और ६. दुषमादुषमा। इसी प्रकार उत्सर्पिणी के भी अति दु:षमा को आदि लेकर छह भेद हैं-

इन छह भेदों के काल का नियम इस प्रकार है-

१. सुषमासुषमा- चार कोड़ाकोड़ी सागर, २. सुषमा- तीन कोड़ाकोड़ी सागर, ३. सुषमादु:षमा- दो कोड़ाकोड़ी सागर, ४. दु:षमासुषमा- ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर, ५. दु:षमा- इक्कीस हजार वर्ष, ६. दुषमादुषमा- इक्कीस हजार वर्ष। भरत और ऐरावत क्षेत्र में इन छह भेदों सहित उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का परिवर्तन होता रहता है। असंख्यात अवसर्पिणी बीत जाने के बाद एक हुण्डावसर्पिणी काल होता है। अभी हुण्डावसर्पिणी काल चल रहा है॥२७॥

नोट - भरत और ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी म्लेच्छखण्डों तथा विजयार्ध पर्वत की श्रेणियों में अवसर्पिणी काल के समय चतुर्थ काल के आदि से लेकर अन्त तक परिवर्तन होता है। इनमें आर्यखण्डों की तरह छहों कालों का परिवर्तन नहीं होता और न इनमें प्रलय काल पड़ता है।

अन्य भूमियों का वर्णन

ताभ्या-मपरा भूमयोऽवस्थिताः॥२८॥

अर्थ - **ताभ्याम्** = भरत और ऐरावत के सिवाय, **अपराः** = अन्य, **भूमयः** = क्षेत्र, **अवस्थिताः** = एक ही अवस्था में रहते हैं- उनमें काल का परिवर्तन नहीं होता ॥२८॥

हैमवतक आदि क्षेत्रों में आयु की व्यवस्था

एक-द्वि-त्रि-पल्योपम-स्थितयो हैमवतक-हारिवर्षक-दैव-कुरवकाः ॥२९॥

अर्थ - हैमवत्, हरिक्षेत्र और देवकुरु (विदेह क्षेत्र के अन्तर्गत एक विशेष स्थान) के निवासी मनुष्य तिर्यंच क्रम से एक पल्य, दो पल्य और तीन पल्य की आयु वाले होते हैं॥२९॥

हैरण्यवत आदि क्षेत्रों में आयु का वर्णन

तथोत्तराः ॥३०॥

अर्थ - उत्तर के क्षेत्र में रहने वाले मनुष्य भी हिमवान् आदि के मनुष्यों के समान आयु वाले होते हैं।

भावार्थ - हैरण्यवत क्षेत्र की रचना हैमवत क्षेत्र के समान, रम्यक् क्षेत्र की रचना हरिक्षेत्र के समान और उत्तर कुरु (विदेहक्षेत्र के अन्तर्गत स्थान विशेष) की रचना देव कुरु के समान है। इस प्रकार उत्तम, मध्यम और जघन्यरूप तीनों भोगभूमियों के दो-दो क्षेत्र हैं। जम्बूद्वीप में छः भोगभूमियाँ और अढ़ाई द्वीप में कुल ३० भोगभूमियाँ हैं॥३०॥

विदेह क्षेत्र में आयु का वर्णन

विदेहेषु संख्येय-कालाः ॥३१॥

अर्थ - विदेह क्षेत्र में मनुष्य और तिर्यंच संख्यात् वर्ष की आयु वाले होते हैं॥३१॥

भरत क्षेत्र का अन्य प्रकार से विस्तार

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवति-शत-भागः ॥३२॥

अर्थ - भरत क्षेत्र का विस्तार जम्बूद्वीप के एक सौ नब्बे वाँ भाग हैं।

नोट - यदि एक लाख के एक सौ नब्बे हिस्से किये जायें, तो उनमें हर एक का प्रमाण ५२६ ६/१९ योजन होगा॥३२॥

धातकीखण्ड का वर्णन

द्वि-र्धातकी-खण्डे ॥३३॥

अर्थ - धातकी खण्ड नामक दूसरे द्वीप में क्षेत्र, कुलाचल, मेरु, नदी आदि समस्त पदार्थों की रचना जम्बूद्वीप से दूनी-दूनी है॥३३॥

पुष्कर द्वीप का वर्णन

पुष्करार्द्धे च॥३४॥

अर्थ - पुष्करार्द्ध द्वीप में जम्बूद्वीप की अपेक्षा सब रचना दूनी दूनी है।

विशेष - पुष्करवर द्वीप का विस्तार १६ लाख योजन है, उसके ठीक बीच में चूड़ी के आकार मानुषोत्तर पर्वत है, जिससे इस द्वीप के दो हिस्से हो गये हैं। पूर्वार्ध में सब रचना धातकी खण्ड के समान है और जम्बूद्वीप से दूनी-दूनी है। इस द्वीप के उत्तर कुरु प्रान्त में एक पुष्कर (कमल) है, उसके संयोग से ही इसका नाम पुष्करवर द्वीप पड़ा है॥३४॥

मनुष्य क्षेत्र

प्राङ्-मानुषोत्तरान्-मनुष्याः॥३५॥

अर्थ - मानुषोत्तर पर्वत से पहले अर्थात् अढ़ाई द्वीप में मनुष्य होते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के आगे ऋद्धिधारी मुनीश्वर तथा विद्याधर भी नहीं जा सकते हैं॥३५॥

मुनष्यों के भेद

आर्या म्लेच्छाश्च ॥३६॥

अर्थ - आर्य और मलेच्छ के भेद से मनुष्य दो प्रकार के होते हैं।

आर्य - जो अनेक गुणों से सम्पन्न हों तथा गुणी पुरुष जिनकी सेवा करें, उन्हें आर्य कहते हैं।

म्लेच्छ - जो आचार-विचार से भ्रष्ट हों तथा जिन्हें धर्म-कर्म का कुछ विवेक न हो, उन्हें मलेच्छ कहते हैं॥३६॥

कर्मभूमि का वर्णन

भरतै-रावत-विदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देव-कुरुत्तर-कुरुभ्यः॥३७॥

अर्थ - पाँच मेरु सम्बन्धी ५ भरत, ५ ऐरावत और देवकुरु-उत्तरकुरु को छोड़कर ५ विदेह, इस तरह अढ़ाई द्वीप में कुल १५ कर्मभूमियाँ हैं।

कर्म भूमि - जहाँ पर असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्प इन छह कर्मों की प्रवृत्ति हो, उसे कर्मभूमि कहते हैं॥३७॥

मनुष्यों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति

नृ-स्थिति परावरे त्रि-पल्योपमान्त-र्मुहूर्ते॥३८॥

अर्थ - मनुष्यों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

तिर्यंचों की स्थिति

तिर्यग्योनिजानां-च ॥३९॥

अर्थ - तिर्यंचों की भी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति क्रम से तीन पल्य और अन्तर्मुहूर्त की है।

॥ इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रे तृतीयोऽध्यायः॥

चतुर्थ अध्याय

देव के भेद

देवाश्-चतु-र्णिकायाः ॥१॥

अर्थ - देव चार समूह वाले हैं अर्थात् देवों के चार भेद हैं- १ भवनवासी, २ व्यन्तर, ३ ज्योतिषी और ४ वैमानिक।

देव - जो देवगति नाम कर्म के उदय की सामर्थ्य से नाना प्रकार की बाह्य विभूति सहित द्वीप समुद्र तथा पर्वत आदि रमणीक स्थानों पर क्रीड़ा करें वे देव कहलाते हैं॥१॥

भवनत्रिक देवों में लेश्या का विभाग

आदितस्-त्रिषु पीतान्त-लेश्याः ॥२॥

अर्थ - पहले के तीन निकायों में पीतान्त अर्थात् कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्याएँ होती हैं॥२॥

चार निकायों के प्रभेद

दशाष्ट-पञ्च-द्वादश-विकल्पाः कल्पोप- पन्न-पर्यन्ताः ॥३॥

अर्थ - कल्पोपपन्न (सोलहवें स्वर्ग तक के देव) पर्यन्त उक्त चार प्रकार के देवों के क्रम से दश, आठ, पाँच और बारह भेद हैं॥३॥

चारों प्रकार के देवों के सामान्य भेद

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपाला-
नीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ॥४॥

अर्थ - उक्त चार प्रकार के देवों में प्रत्येक के इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक ये दश भेद होते हैं।

इन्द्र - जो देव दूसरे देवों में नहीं रहने वाली अणिमा आदि ऋद्धियों से सहित हो उसे इन्द्र कहते हैं। ये देव राजा के तुल्य होते हैं।

सामानिक - जिनकी आयु, वीर्य, भोग, उपभोग आदि इन्द्र के तुल्य हों, पर आज्ञा रूप ऐश्वर्य से रहित हों उन्हें सामानिक कहते हैं। ये देव पितागुरु के तुल्य होते हैं।

त्रायस्त्रिंश - जो देव मंत्री-पुरोहित के स्थानापन्न हों, उन्हें त्रायस्त्रिंश कहते हैं। ये देव एक इन्द्र की सभा में तैतीस ही होते हैं।

पारिषद - जो देव इन्द्र की सभा में बैठने वाले हों, उन्हें पारिषद कहते हैं।

आत्मरक्ष - जो देव अंगरक्षक के सदृश होते हैं, उन्हें आत्मरक्ष कहते हैं।

लोकपाल - जो देव कोतवाल के समान लोक का पालन करते हैं, उन्हें लोकपाल कहते हैं।

अनीक - जो देव पदाति आदि सात तरह की सेना में विभक्त रहते हैं, वे अनीक कहलाते हैं।

प्रकीर्णक - जो देव नगरवासियों के समान हों, उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं।

आभियोग्य - जो देव दासों के समान सवारी आदि के काम आवें वे, आभियोग्य हैं।

किल्विषिक - जो देव चाण्डालादि की तरह नीच काम करने वाले हों, उन्हें किल्विषिक कहते हैं॥४॥

व्यंतर और ज्योतिषी देवों में इंद्र आदि भेदों की विशेषता

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥५॥

अर्थ - व्यन्तर और ज्योतिषी देव त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल के भेद से रहित हैं ॥५॥

देवों में इन्द्रों की संख्या

पूर्वयो-र्द्वीन्द्राः ॥६॥

अर्थ - भवनवासी और व्यन्तर में प्रत्येक भेद में दो-दो इन्द्र होते हैं।

भावार्थ - भवनवासियों के दश भेदों में बीस और व्यन्तरों के आठ भेदों में सोलह इन्द्र होते हैं तथा इतने ही प्रतींद्र होते हैं॥६॥

देवों में स्त्री सुख का वर्णन

काय-प्रवीचारा आ ऐशानात् ॥७॥

अर्थ - **आ ऐशानात्** = ऐशान स्वर्ग पर्यन्त के देव अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और पहले-दूसरे स्वर्ग के देव, **कायप्रवीचाराः** = मनुष्यों के समान शरीर से कामसेवन करते हैं। **प्रवीचार** = कामसेवन॥७॥

शेषाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनः प्रवीचाराः ॥८॥

अर्थ - शेष स्वर्ग के देव, देवियाँ स्पर्श से, रूप देखने से, शब्द सुनने से और मन के विचारने से कामसेवन करते हैं। अर्थात् तीसरे और चौथे स्वर्ग के देव देवांगनाओं के स्पर्शन से, पाँचवें, छठवें, सातवें, आठवें स्वर्ग के देव, देवियों के रूप देखने से, नौवें, दशवें, ग्यारहवें और बारहवें स्वर्ग के देव, देवियों के शब्द सुनने से तथा तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें स्वर्ग के देव, देवांगनाओं का मन में विचार करने मात्र से तृप्त हो जाते हैं- उनकी कामेच्छा शांत हो जाती है॥८॥

परेऽप्रवीचाराः ॥९॥

अर्थ - सोलहवें स्वर्ग से आगे के देव काम सेवन से रहित होते हैं। इनके कामेच्छा ही उत्पन्न नहीं होती, तब उसके प्रतिकार से क्या प्रयोजन? ॥९॥

भवनवासियों के दश भेद

भवन-वासिनोऽसुर-नाग-विद्युत्-सुपर्णाग्नि
वात-स्तनितो-दधि- द्वीप-दिक्कुमाराः ॥१०॥

अर्थ - भवनवासी देवों के असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार ऐसे दस भेद हैं॥१०॥

व्यन्तर देवों के आठ भेद

व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षस-
भूतपिशाचाः ॥११॥

अर्थ - व्यन्तर देव - किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच इस प्रकार आठ तरह के होते हैं॥११॥

ज्योतिषी देवों के पाँच भेद

ज्योतिष्काः सूर्यचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥१२॥

अर्थ - ज्योतिषीदेव - सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारों के भेद से पाँच प्रकार के हैं।

नोट - ज्योतिषी देवों का निवास मध्यलोक के समधरातल से ७९० योजन की ऊँचाई से लेकर ९०० योजन की ऊँचाई तक आकाश में है॥१२॥

ज्योतिषी देवों का विशेष वर्णन

मेरु-प्रदक्षिणा नित्य-गतयो नृ-लोके ॥१३॥

अर्थ - ऊपर कहे हुए ज्योतिषी देव **नृलोके**=मनुष्य लोक में **मेरुप्रदक्षिणाः**= मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा देते हुए **नित्यगतयः**= हमेशा गमन करते रहते हैं॥१३॥

तत्-कृतः काल-विभागः॥१४॥

अर्थ - **काल विभागः** = घड़ी, घण्टा, दिन-रात आदि व्यवहार काल का विभाग, **तत्कृतः** = उन्हीं गतिशील ज्योतिषी देवों के द्वारा किया गया है॥१४॥

बहि-रवस्थिताः॥१५॥

अर्थ - मनुष्यलोक अर्थात् अढ़ाई द्वीप से बाहर के ज्योतिषी देव स्थिर हैं॥१५॥

वैमानिक देवों का वर्णन

वैमानिकाः॥१६॥

अर्थ - अब यहाँ वैमानिक देवों का वर्णन शुरू होता है।

विमान - जिनमें रहने वाले देव अपने को विशेष पुण्यात्मा समझें उन्हें विमान कहते हैं और विमानों में जो पैदा हों उन्हें वैमानिक कहते हैं॥१६॥

वैमानिक देवों के भेद

कल्पोप-पन्नाः कल्पातीताश्च॥१७॥

अर्थ - वैमानिक देवों के भेद हैं- १ कल्पोपन्न और २ कल्पातीत। जिनमें इन्द्र आदि दश भेदों की कल्पना होती है, ऐसे सोलह स्वर्गों को कल्प कहते हैं। उनमें जो पैदा हों उन्हें कल्पोपन्न कहते हैं। और जो देव सोलहवें स्वर्ग से आगे पैदा हों, उन्हें कल्पातीत कहते हैं॥१७॥

कल्पों का स्थिति क्रम

उपर्युपरि ॥१८॥

अर्थ - सोलह स्वर्गों के आठ युगल, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर ये सब विमान क्रम से ऊपर-ऊपर हैं॥१८॥

वैमानिक देवों के रहने का स्थान

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तव-
कापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्त्रारेष्वानतप्राणतयोरा
रणाच्युतयोर्नवसुग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्ता-
पराजितेषु सर्वार्थ-सिद्धौ च ॥१९॥

अर्थ - सौधर्म-ऐशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र- महाशुक्र, शतार-सहस्रार, इन छह युगलों के बारह स्वर्गों में, आनत-प्राणत इन दो स्वर्गों में, आरण-अच्युत इन दो स्वर्गों में, नव ग्रैवेयक विमानों में, नव अनुदिश विमानों में और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि इन पाँच अनुत्तर विमानों में वैमानिक देव रहते हैं।

नोट - इस सूत्र में यद्यपि अनुदिश विमानों का पाठ नहीं है तथापि 'नवसु' इस पद से उनका ग्रहण कर लेना चाहिये॥१९॥

वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर अधिकता

स्थिति-प्रभाव-सुख-द्युति-लेश्या-विशुद्धीन्द्रिया-
वधि-विषयतोऽधिकाः॥२०॥

अर्थ - आयु, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या की विशुद्धता, इन्द्रिय विषय और अवधिज्ञान का विषय इन सबकी अपेक्षा ऊपर विमानों में अधिक अधिक है॥२०॥

वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर हीनता

गति-शरीर-परिग्रहाभि-मानतो हीनाः॥२१॥

अर्थ - ऊपर-ऊपर के देव गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान की अपेक्षा हीन-हीन हैं।

नोट - सोलहवें स्वर्ग से आगे के देव अपने विमान को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाते॥२१॥

वैमानिक देवों में लेश्या का वर्णन

पीत-पद्म-शुक्ल-लेश्या-द्वि-त्रि-शेषेषु॥२२॥

अर्थ - **द्वित्रिशेषेषु** = दो युगलों में, तीन युगलों में तथा शेष के समस्त विमानों में क्रम से, **पीतपद्मशुक्ललेश्याः** = पीत, पद्म और शुक्ललेश्या होती है।

विशेषार्थ - पहले और दूसरे स्वर्ग में पीतलेश्या, तीसरे और चौथे स्वर्ग में पीत और पद्मलेश्या, पाँचवें, छठवें, सातवें, आठवें स्वर्ग में पद्मलेश्या; नवमें, दशवें,

ग्यारहवें और बारहवें स्वर्ग में पद्म और शुक्ललेश्या तथा शेष समस्त विमानों में शुक्ललेश्या है। अनुदिश और अनुत्तर के १४ विमानों में परम शुक्ललेश्या होती है॥२२॥

कल्पसंज्ञा कहाँ तक है?

प्राग्-ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः॥२३॥

अर्थ - **ग्रैवेयकेभ्यः प्राक्** = ग्रैवेयकों से पहले पहले के १६ स्वर्ग, **कल्पाः** = कल्प कहलाते हैं। इनमें आगे के विमान कल्पातीत हैं। नवग्रैवेयक आदि के देव एक समान वैभव के धारी होते हैं और अहमिन्द्र कहलाते हैं॥२३॥

लौकान्तिक देव

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः॥२४॥

अर्थ - ब्रह्मलोक (पाँचवाँ स्वर्ग) है आलय (निवास स्थान) जिनका ऐसे लौकान्तिक देव हैं।

नोट - ये देव ब्रह्मलोक के अन्त में रहते हैं अथवा एक भवावतारी होने से लोक (संसार) का अन्त (नाश) करने वाले होते हैं, इसलिये लौकांतिक कहलाते हैं। ये द्वादशांग के पाठी होते हैं, ब्रह्मचारी रहते हैं और तीर्थंकरों के सिर्फ तप कल्याणक में आते हैं। इन्हें 'देवर्षि' भी कहते हैं॥२४॥

लौकांतिक देव के नाम

सारस्वतादित्यवह्नयरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च॥२५॥

अर्थ - १. सारस्वत, २. आदित्य, ३. वन्हि, ४. अरुण, ५. गर्दतोय, ६. तुषित, ७. अव्याबाध और ८. अरिष्ट ये आठ लौकांतिक देव हैं। वे ब्रह्मलोक की ऐशान आदि आठ दिशाओं में रहते हैं॥२५॥

अनुदिश तथा अनुत्तरवासी देवों में अवतार का नियम

विजयादिषु द्वि-चरमाः॥२६॥

अर्थ - विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा अनुदिश विमानों के अहमिन्द्र द्विचरम होते हैं अर्थात् मनुष्यों के दो जन्म लेकर नियम से मोक्ष चले जाते हैं। किन्तु सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र एक भवावतारी ही होते हैं॥२६॥

तिर्यञ्च कौन हैं?

औपपादिक-मनुष्येभ्यः शेषास्-तिर्यग्-योनयः ॥२७॥

अर्थ - उपपाद जन्म लेने वाले देव-नारकी तथा मनुष्यों से अतिरिक्त जीव तिर्यञ्च हैं। तिर्यञ्च समस्त संसार में व्याप्त हैं, परन्तु त्रसनाली में ही रहते हैं॥२७॥

भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु का वर्णन

स्थिति-रसुर-नाग-सुपर्ण-द्वीप-शेषाणां सागरोपम-त्रिपल्योप-मार्द्ध-. हीन-मिताः ॥२८॥

अर्थ - भवनवासियों में असुर कुमार, नाग कुमार, सुपर्ण कुमार, द्वीप कुमार और शेष के छह कुमारों की आयु क्रम से १ सागर, ३ पल्य, २½ पल्य, २ पल्य और १½ पल्य है॥२८॥

वैमानिक देवों की उत्कृष्ट आयु

सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके ॥२९॥

अर्थ - सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की आयु दो सागर से कुछ अधिक है।

नोट - यहाँ 'सागरोपमे' इस द्विवचनान्त प्रयोग से ही दो सागर अर्थ पाया जाता है॥२९॥

सानत्कुमार-माहेन्द्रयोः सप्त ॥३०॥

अर्थ - सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में देवों की आयु सात सागर से कुछ अधिक है।

नोट - इस सूत्र में अधिक शब्द की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र से हुई है॥३०॥

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु ॥३१॥

अर्थ - आगे के युगलों में सात सागर से क्रमपूर्वक ३, ७, ९, ११, १३ और 15 सागर अधिक आयु है। अर्थात् ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में १० सागर से कुछ अधिक, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्ग में १४ सागर से कुछ अधिक, शुक्र और महाशुक्र स्वर्ग में १६ सागर से कुछ अधिक, शतार और सहस्रार स्वर्ग में १८ सागर से कुछ अधिक, आनत और प्राणत स्वर्ग में २० सागर तथा आरण और अच्युत स्वर्ग में २२ सागर उत्कृष्ट स्थिति है॥३१॥

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थ-सिद्धौ च ॥३२॥

अर्थ - **आरणाच्युतात्**=आरण और अच्युत स्वर्ग से **ऊर्ध्वम्**=ऊपर **नवसु ग्रैवेयकेषु**=नव ग्रैवेयकों में **विजयादिषु**= विजय आदि चार विमान तथा नव अनुदिशों में **च**= और **सर्वार्थसिद्धौ**= सर्वार्थसिद्धि विमान में **एकैकेन**=एक-एक सागर बढ़ती हुई आयु है अर्थात् पहले ग्रैवेयक में २३ सागर, दूसरे में २४ सागर आदि, अनुदिशों में ३२ सागर और अनुत्तरों में ३३ सागर उत्कृष्ट स्थिति है।

नोट - सूत्र में 'सर्वार्थसिद्धौ' इस पदको विजयादि से पृथक कहने से सूचित होता है, कि सर्वार्थसिद्धि में सिर्फ उत्कृष्ट स्थिति ही होती है जघन्य नहीं॥३२॥

स्वर्गों में जघन्य आयु का वर्णन

अपरा पल्योपम-मधिकम्॥३३॥

अर्थ - सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में जघन्य आयु एक पल्य से कुछ अधिक है॥३३॥

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा॥३४॥

अर्थ - **पूर्वापूर्वा**= पहले पहले युगल की उत्कृष्ट आयु **परतः परतः**= आगे आगे के युगलों में **अनन्तरा**= जघन्य आयु है। जैसे सौधर्म और ऐशान स्वर्ग की जो उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक दो सागर की है, वह सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में जघन्य आयु है। इसी क्रम से आगे जानना चाहिये। सर्वार्थसिद्धि में जघन्य आयु नहीं होती॥३४॥

नारकियों की जघन्य आयु

नारकाणां-च द्वितीयादिषु॥३५॥

अर्थ - और इसी प्रकार दूसरे आदि नरकों में भी नारकियों की जघन्य आयु है। अर्थात् पहले नरक की उत्कृष्ट आयु दूसरे नरक की जघन्य आयु है। इसी तरह समस्त नरकों में जानना चाहिये॥३५॥

प्रथम नरक की जघन्य आयु

दश-वर्ष सहस्राणि प्रथमायाम्॥३६॥

अर्थ - पहले नरक में नारकियों की जघन्य आयु दस हजार वर्षों की है॥३६॥

भवनवासियों की जघन्य आयु

भवनेषु च ॥३७॥

अर्थ - भवनवासियों में भी जघन्य आयु दस हजार वर्षों की है॥३७॥

व्यन्तरों की जघन्य आयु

व्यन्तराणां-च॥३८॥

अर्थ - व्यन्तर देवों की भी जघन्य स्थिति दस हजार वर्षों की है॥३८॥

व्यन्तरों की उत्कृष्ट आयु

परा पल्योपम-मधिकम्॥३९॥

अर्थ - व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य से कुछ अधिक है॥३९॥

ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट आयु

ज्योतिष्काणां च॥४०॥

अर्थ - ज्योतिषी देवों की भी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्य की है॥४०॥

ज्योतिषी देवों की जघन्य आयु

तदष्ट-भागोऽपरा॥४१॥

अर्थ - ज्योतिषी देवों की जघन्य आयु उस एक पल्य के आठवें भाग है॥४१॥

लौकान्तिक देवों की आयु

लौकान्तिकाना-मष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्॥४२॥

अर्थ - **सर्वेषाम्** = समस्त, **लौकान्तिकानाम्** = लौकान्तिक देवों की जघन्य और उत्कृष्ट आयु, **अष्टौ सागरोपमाणि** = आठ सागर प्रमाण है॥४२॥

॥ इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रे चतुर्थोऽध्यायः॥

पंचम अध्याय

अजीवतत्त्व का वर्णन

अजीव-काया-धर्मा-धर्माकाश-पुद्गलाः ॥१॥

अर्थ - **धर्माधर्माकाशपुद्गलाः** = धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये चार **अजीवकायाः** = अजीव तथा बहुप्रदेशी हैं।

नोट - इस सूत्र में बहुप्रदेशी नहीं होने से काल द्रव्य का ग्रहण नहीं किया है॥१॥

द्रव्यों की गणना

द्रव्याणि॥२॥

अर्थ - उक्त चार पदार्थ द्रव्य हैं॥२॥

जीवाश्च॥३॥

अर्थ - जीव भी द्रव्य है।

नोट - यहाँ 'जीवाः' इस बहुवचन से जीव द्रव्य के अनेक भेद सूचित होते हैं। इनके सिवाय ३९ वें सूत्र में काल द्रव्य का भी कथन होगा। इसलिये इन सबको मिलाने पर जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्य ये छः द्रव्य होते हैं॥३॥

द्रव्य की विशेषता

नित्यावस्थितान्य रूपाणि॥४॥

अर्थ - ऊपर कहे हुए सभी द्रव्य नित्य, अवस्थित और अरूपी हैं। कभी नष्ट नहीं होते, इसलिए नित्य हैं। अपनी ६ संख्या का उल्लंघन नहीं करते, इसलिये अवस्थित हैं और रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श से रहित हैं, इसलिये अरूपी हैं॥४॥

पुद्गलद्रव्य अरूपी नही है

रूपिणः पुद्गलाः॥५॥

अर्थ - पुद्गल द्रव्य रूपी अर्थात् मूर्तिक है।

नोट - यद्यपि सूत्र में सिर्फ पुद्गल को रूपी बतलाया है, पर साहचर्य से रस, गन्ध तथा स्पर्श का भी ग्रहण हो जाता है॥५॥

द्रव्यों के स्वभेद की गणना

आ आकाशा-देक द्रव्याणि ॥६॥

अर्थ - आकाश पर्यन्त एक-एक द्रव्य हैं अर्थात् धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, और आकाश द्रव्य, एक एक हैं। जीवद्रव्य अनन्त हैं, पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त हैं और काल द्रव्य असंख्यात (अणुरूप) हैं॥६॥

निष्क्रियाणि च ॥७॥

अर्थ - धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों द्रव्य क्रिया रहित हैं। **क्रिया** - एक स्थान से दूसरे स्थान में प्राप्त होने को क्रिया कहते हैं।

नोट - धर्म और अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं तथा आकाशद्रव्य लोक और अलोक दोनों जगह व्याप्त हैं इसलिये अन्य क्षेत्र का अभाव होने से इनमें क्रिया नहीं होती॥७॥

द्रव्यों के प्रदेशों का वर्णन

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैक जीवानाम् ॥८॥

अर्थ - **धर्माधर्मैकजीवानाम्** = धर्म, अधर्म और एक जीव द्रव्य के, **असंख्येयाः** = असंख्यात्, **प्रदेशाः** = प्रदेश होते हैं।

प्रदेश - जितने क्षेत्र को एक पुद्गल परमाणु रोकता है, उतने क्षेत्र को एक प्रदेश कहते हैं।

नोट - सब जीव द्रव्यों के अनन्तानन्त प्रदेश होते हैं, इसलिये सूत्र में एक एक जीव का ग्रहण किया है॥८॥

आकाशस्या-नन्ताः ॥९॥

अर्थ - आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। परन्तु लोकाकाश के असंख्यात ही हैं॥९॥

संख्येया-संख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥१०॥

अर्थ - **पुद्गलानाम्** = पुद्गलों के **संख्येयाऽसंख्येयाः च** = संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं।

शंका - जब लोकाकाश में असंख्यात ही प्रदेश हैं, तब उसमें अनन्त प्रदेश वाले पुद्गल द्रव्य तथा शेष द्रव्य किस तरह रह सकेंगे?

समाधान - पुद्गल द्रव्य में दो तरह का परिणमन होता है- एक सूक्ष्म और दूसरा स्थूल। जब उसमें सूक्ष्म परिणमन होता है तब लोकाकाश के एक प्रदेश में भी

अनन्त प्रदेश वाला पुद्गल स्कन्ध स्थान पा लेता है। इसके सिवाय समस्त द्रव्यों में एक दूसरे को अवगाहन देने की सामर्थ्य है। जिसके अल्प क्षेत्र में ही समस्त द्रव्यों के निवास में कोई बाधा नहीं होती॥१०॥

नाणोः॥११॥

अर्थ - पुद्गल के परमाणु के द्वितीयादिक प्रदेश नहीं हैं अर्थात् वह एक प्रदेशी ही है॥११॥

समस्त द्रव्यों के रहने का स्थान

लोकाकाशेऽवगाहः॥१२॥

अर्थ - ऊपर कहे हुए समस्त द्रव्यों का अवगाह (स्थान) लोकाकाश में है।

लोकाकाश - आकाश के जितने हिस्से में जीव आदि छहों द्रव्य पाये जावें, उतने हिस्से को लोकाकाश कहते हैं। बाकी का हिस्सा अलोकाकाश कहलाता है॥१२॥

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने॥१३॥

अर्थ - धर्म और अधर्म द्रव्य का अवगाह तिल में तैल की तरह समस्त लोकाकाश में है॥१३॥

एक-प्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम्॥१४॥

अर्थ - **पुद्गलानाम्** = पुद्गल द्रव्य का अवगाह, **एकप्रदेशादिषु** = लोकाकाश के एक प्रदेश से लेकर असंख्यात प्रदेशों में, **भाज्यः** = विभाग करने योग्य है॥१४॥

असंख्येय-भागादिषु-जीवानाम्॥१५॥

अर्थ - **जीवानाम्** = जीवों का अवगाह, **असंख्येयभागादिषु** = लोकाकाश के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक क्षेत्र में है॥१५॥

प्रश्न - जबकि एक जीव द्रव्य असंख्यात प्रदेशी है, तब वह लोक के असंख्यातवें भाग में कैसे रह सकता है? समाधान

प्रदेश-संहार विसर्पाभ्यां प्रदीपवत्॥१६॥

अर्थ - **प्रदीपवत्** = दीपक के प्रकाश की तरह, **प्रदेशसंहारविसर्पाभ्याम्** = प्रदेशों के संकोच और विस्तार के द्वारा जीव लोकाकाश के असंख्यातवें आदि भागों में रहता है अर्थात् जिस तरह एक बड़े मकान में दीपक के रख देने से उसका

प्रकाश समस्त मकान में फैल जाता है और उसी दीपक को एक छोटे बर्तन के भीतर रख देने से उसका प्रकाश उसी में संकुचित होकर रह जाता है, उसी तरह जीव भी जितना बड़ा या छोटा शरीर पाता है उसमें उतना ही विस्तृत या संकुचित होकर रह जाता है। परन्तु केवली समुद्घात अवस्था में सम्पूर्ण लोककाश में व्याप्त हो जाता है और सिद्ध अवस्था में अन्तिम शरीर से कुछ कम रहता है॥१६॥

धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार या लक्षण

गति-स्थित्युप-ग्रहौ धर्माधर्मयो-रुपकारः॥१७॥

अर्थ - स्वयमेव गमन तथा स्थिति को प्राप्त हुए जीव और पुद्गलों को गति तथा स्थिति में सहायता देना क्रम से धर्म, अधर्म द्रव्य का उपकार है।

भावार्थ - जो गमनशील जीव और पुद्गलों को चलाने में सहायक हो, उसे धर्म द्रव्य तथा जो ठहरे हुए जीव को ठहराने में सहायक हो उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं॥१७॥

आकाश का उपकार या लक्षण

आकाशस्यावगाहः॥१८॥

अर्थ - समस्त द्रव्यों को अवकाश देना आकाश का उपकार है।

भावार्थ - जो सब द्रव्यों को ठहरने के लिये स्थान देवे उसे आकाश कहते हैं॥१८॥

पुद्गल द्रव्य का उपकार

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाःपुद्गलानाम्॥१९॥

अर्थ - औदारिक आदि शरीर, वचन, मन तथा श्वासोच्छ्वास ये पुद्गल द्रव्य के उपकार हैं अर्थात् शरीरादि की रचना पुद्गल से ही होती है॥१९॥

सुखदुःख-जीवित-मरणोप-ग्रहाश्च॥२०॥

अर्थ - इन्द्रियजन्य सुख-दुःख जीवन और मरण ये भी पुद्गल द्रव्य के उपकार हैं।

नोट १ - इस सूत्र में जो उपग्रह शब्द का ग्रहण किया है, उससे सूचित होता है कि पुद्गल परस्पर में एक दूसरे का उपकार करते हैं। जैसे- राख कांसे का, पानी लोहे का, साबुन कपड़े का आदि।

नोट २ - यहाँ उपकार शब्द का अर्थ निमित्त मात्र ही समझना चाहिये अन्यथा दु:ख, मरण आदि उपकार नहीं कहलावेंगे ॥२०॥

जीवों का उपकार

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥२१॥

अर्थ - जीवों का परस्पर उपकार है अर्थात् जीव कारणवश एक दूसरे का उपकार करते हैं। जैसे-स्वामी सेवक का, सेवक स्वामी का, गुरु शिष्य का और शिष्य गुरु का।

काल का उपकार

वर्तना-परिणाम-क्रियाः परत्वा-परत्वे च कालस्य ॥२२॥

अर्थ - वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल द्रव्य के उपकार हैं।

वर्तना - जो द्रव्यों को वर्तावे, उसे वर्तना कहते हैं।

परिणाम - एक धर्म के त्यागरूप और दूसरे धर्म के ग्रहण रूप जो पर्याय है उसे परिणाम कहते हैं। जैसे जीवों में ज्ञानादि और पुद्गलों में वर्णादि।

क्रिया - हलन-चलन रूप परिणति को क्रिया कहते हैं।

परत्वापरत्व - छोटे बड़े व्यवहार को परत्वापरत्व कहते हैं। जैसे-२५ वर्ष के मनुष्य को बड़ा और २० वर्ष के मनुष्य को उसकी अपेक्षा छोटा कहते हैं।

ये सब कालद्रव्य की सहायता से होते हैं, इसलिये इन्हें देखकर अमूर्तिक निश्चय काल द्रव्य का अनुमान कर लेना चाहिये ॥२२॥

पुद्गल द्रव्य का लक्षण

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्गलाः ॥२३॥

अर्थ - स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले पुद्गल हैं।

विशेष - ये चारों गुण हर एक पुद्गल में एक साथ रहते हैं। इनके उत्तर भेद इस प्रकार हैं-

स्पर्श के आठ भेद - १. कोमल, २. कठोर, ३. हल्का, ४. भारी, ५. शीत, ६. उष्ण, ७. स्निग्ध और ८. रूक्ष।

रस के पाँच भेद - १. खट्टा, २. मीठा, ३. कडुआ, ४. कषायला और ५. चरपरा।

गन्ध के दो भेद - १. सुगन्ध और २. दुर्गन्ध।

वर्ण के पाँच भेद - काला, नीला, पीला, लाल और सफेद। ये बीस पुद्गल के गुण कहलाते हैं क्योंकि हमेशा उसी में रहते हैं॥२३॥

पुद्गल की पर्याय

शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद तमश्-छाया-तपो-द्योत-वन्तश्च॥२४॥

अर्थ - उक्त लक्षण वाले पुद्गल = शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान (आकार) भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत सहित हैं। अर्थात् ये पुद्गल की पर्यायें हैं॥२४॥

पुद्गल के भेद

अणवः स्कन्धाश्च॥२५॥

अर्थ - पुद्गल द्रव्य अणु और स्कन्ध इस प्रकार दो भेद रूप हैं।

अणु - जिसका दूसरा विभाग न हो सके, ऐसे पुद्गल को अणु कहते हैं।

स्कन्ध - दो, तीन, संख्यात, असंख्यात तथा अनंत परमाणुओं के पिण्ड को स्कन्ध कहते हैं॥२५॥

स्कन्धों की उत्पति का कारण

भेदसंघातेभ्यःउत्पद्यन्ते ॥२६॥

अर्थ - पुद्गल द्रव्य के स्कन्ध भेद = बिछुड़ने, संघात = मिलने और भेद संघात-दोनों से उत्पन्न होते हैं। जैसे १०० परमाणु वाला स्कन्ध है उसमें १० परमाणु बिखर जाने से ९० परमाणु वाला स्कन्ध बन जाता है और उसी में १० परमाणु मिल जाने से ११० परमाणु वाला स्कन्ध बन जाता है और उसी में एक साथ दश परमाणुओं के बिछुड़ने और १५ परमाणुओं के मिल जाने से १०५ परमाणु वाला स्कन्ध बन जाता है।

अणु की उत्पत्ति का कारण

भेदा-दणुः ॥२७॥

अर्थ - अणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है॥२७॥

चाक्षुष (देखने योग्य - स्थूल) स्कन्ध की उत्पत्ति

भेद-संघाताभ्यां चाक्षुषः ॥२८॥

अर्थ - **चाक्षुषः** = चक्षु इन्द्रिय से देखने योग्य स्कन्ध, **भेदसंघाताभ्याम्** = भेद और संघात दोनों से ही उत्पन्न होता है। अकेले भेद से उत्पन्न नहीं हो सकता॥२८॥

द्रव्य का लक्षण

सद्-द्रव्य-लक्षणम्॥२९॥

अर्थ - द्रव्य का लक्षण सत् (अस्तित्व) है॥२९॥

सत् का लक्षण

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्॥३०॥

अर्थ - जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित हो वह सत् है।

उत्पाद - द्रव्य में नवीन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद कहते हैं जैसे मिट्टी की पिण्ड पर्याय से घट की उत्पत्ति।

व्यय - पूर्वपर्याय के विनाश को व्यय कहते हैं जैसे घटपर्याय उत्पन्न होने पर पिण्डपर्याय का व्यय।

ध्रौव्य - दोनों पर्यायों में मौजूद रहने को ध्रौव्य कहते हैं। जैसे पिण्ड तथा घट पर्याय में मिट्टी का धौव्यपना॥३०॥

नित्य का लक्षण

तद्-भावाव्ययं नित्यम्॥३१॥

अर्थ - जो द्रव्य का तद्भावरूप से अव्यय है, वही नित्य है।

भावार्थ - प्रत्यभिज्ञान के हेतु को तद्भाव कहते हैं। जिस द्रव्य को पहले समय में देखने के बाद दूसरे आदि समयों में देखने पर 'यह वही है जिसे पहले देखा था' ऐसा जोड़ रूप ज्ञान हो वह द्रव्य नित्य है। परन्तु यह नित्यता पदार्थ में सामान्य स्वरूप की अपेक्षा होती है, विशेष अर्थात् पर्याय की अपेक्षा सभी द्रव्य अनित्य हैं। इसलिये संसार के सब पदार्थ नित्यानित्यरूप हैं॥३१॥

प्रश्न - एक ही द्रव्य में नित्यता और अनित्यता ये दो विरुद्ध धर्म किस प्रकार रहते हैं? समाधान -

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥३२॥

अर्थ - विवक्षित और अविवक्षित रूप से एक ही द्रव्य में नाना धर्म रहते हैं। वक्ता जिस धर्म को कहने की इच्छा करता है, उसे अर्पित-विवक्षित कहते हैं। और वक्ता उस समय जिस धर्म को नहीं कहना चाहता है, वह अनर्पित-अविवक्षित है। जैसे वक्ता यदि द्रव्यार्थिक नयसे वस्तु का प्रतिपादन करेगा तो नित्यता विवक्षित कहलावेगी और यदि पर्यायार्थिक नय से प्रतिपादन करेगा तो अनित्यता विवक्षित है। जिस समय किसी पदार्थ को द्रव्य की अपेक्षा नित्य कहा जा रहा है उसी समय वह पदार्थ पर्याय की अपेक्षा अनित्य भी है। पिता, पुत्र, मामा, भानजा आदि की तरह एक ही पदार्थ में अनेक धर्म रहने पर भी विरोध नहीं आता है ॥३२॥

परमाणुओं के बंध होने में कारण

स्निग्ध-रूक्षत्वाद् बन्धः ॥३३॥

अर्थ - चिकनाई और रूखापन के निमित्त से बन्ध होता है।

बन्ध - अनेक पदार्थों में एकपने का ज्ञान कराने वाले सम्बन्ध विशेष को बन्ध कहते हैं॥३३॥

न जघन्य-गुणानाम्॥३४॥

अर्थ - जघन्य गुण सहित परमाणुओं का बन्ध नहीं होता।

गुण - स्निग्धता और रूक्षता के अविभागीप्रतिच्छेदों (जिसका टुकड़ा न हो सके ऐसे अंशों) को गुण कहते हैं।

जघन्य गुण सहित परमाणु - जिस परमाणु में स्निग्ध और रूक्षता का एक अविभागी अंश हो, उसे जघन्य गुण सहित परमाणु कहते हैं।

गुणसाम्ये सदृशानाम्॥३५॥

अर्थ - गुणों की समानता होने पर समान जाति वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। जैसे दो गुण वाले स्निग्ध परमाणु का दूसरे को गुण वाले स्निग्ध परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता।

नोट - सूत्र में "सदृशानाम्" इस पद के ग्रहण से प्रकट होता है कि गुणों की विषमता में समान जाति वाले अथवा भिन्न जाति वाले पुद्गलों का बन्ध हो जाता है॥३५॥

बन्ध किनका होता है

द्वय-धिकादि-गुणानां तु॥३६॥

अर्थ - किन्तु दो अधिक गुण वालों के साथ ही बन्ध होता है। अर्थात् बन्ध तभी होगा जब एक परमाणु से दूसरे परमाणु में २ अधिक गुण होवें। जैसे दो गुण वाले परमाणु का चार गुण वाले परमाणु के साथ बन्ध होगा, इससे अधिक व कम गुण वाले के साथ नहीं होगा। यह बन्ध स्निग्ध स्निग्ध का, रूक्ष रूक्ष का और स्निग्ध रूक्ष का भी होता है॥३६॥

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥३७॥

अर्थ - **च** = और, **बन्धे** = बन्ध रूप अवस्था में, **अधिकौ** = अधिक गुण वाले परमाणु **पारिणामिकौ** = कम गुण वाले परमाणुओं को अपने रूप परिणमाने वाले होते हैं। जैसे गीला गुड़ अपने साथ बन्ध को प्राप्त हुए रजको गुड़रूप परिणमा लेता है॥३७॥

द्रव्य का लक्षण

गुण-पर्ययवद् द्रव्यम्॥३८॥

अर्थ - जिसमें गुण और पर्याय पाई जावें, उसे द्रव्य कहते हैं।

गुण - द्रव्य की अनेक पर्याय पलटते रहने पर भी जो द्रव्य से कभी पृथक न हो, निरन्तर द्रव्य के साथ रहे, उसे गुण कहते हैं। जैसे जीव के ज्ञान आदि और पुद्गल के रूप आदि।

पर्याय - क्रम से होने वाली वस्तु की विशेषता को पर्याय कहते हैं। जैसे जीव की नर-नारकादि पर्याय॥३८॥

काल भी द्रव्य है

कालश्च॥३९॥

अर्थ - काल भी द्रव्य है, क्योंकि यह भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तथा गुण पर्यायों से सहित है।

नोट - यह काल द्रव्य रत्नों की राशि की तरह एक दूसरे से पृथक् रहते हुए लोकाकाश के समस्त प्रदेशों पर स्थित है, यह एक प्रदेशी और अमूर्तिक है॥३९॥

काल द्रव्य की विशेषता

सोऽनन्त समयः ॥४०॥

अर्थ - वह काल द्रव्य अनन्त समय वाला है। यद्यपि वर्तमान काल एक समय मात्र ही है, तथापि भूत भविष्यत् की अपेक्षा अनन्त समय वाला है।

समय - कालद्रव्य के सबसे छोटे हिस्से को समय कहते हैं। मन्दगति से चलने वाला पुद्गल परमाणु आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जितने काल में पहुँचता है, उतना काल एक समय है। इन समयों के समूह से ही आवलि, घण्टा आदि व्यवहार काल होता है। व्यवहार काल निश्चय काल द्रव्य की पर्याय है।

निश्चय काल द्रव्य - लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर रत्नों की राशि की तरह जो स्थित है, उसे निश्चय काल द्रव्य कहते हैं। वर्तना उसका कार्य है॥४०॥

गुण का लक्षण

द्रव्याश्रया निर्गुणा-गुणाः ॥४१॥

अर्थ - जो द्रव्य के आश्रित हों और स्वयं दूसरे गुणों से रहित हों, वे गुण कहलाते हैं जैसे- जीव के ज्ञान आदि। ये जीव द्रव्य के आश्रय रहते हैं तथा इनमें कोई दूसरा नहीं रहता॥४१॥

पर्याय का लक्षण

तद्-भावः परिणामः ॥४२॥

अर्थ - जीवादि द्रव्य जिस रूप हैं, उनके उसी रूप रहने को परिणाम या पर्याय कहते हैं। जैसे जीव की नर-नारकादि पर्याय॥४२॥

॥ इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रे पञ्चमोऽध्यायः॥

छठवाँ अध्याय

आस्रवतत्त्व का वर्णन

योग के भेद व स्वरूप

काय-वाङ् मनः कर्म योगः ॥१॥

अर्थ - काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं। अर्थात् काय, वचन और मन के द्वारा आत्मा के प्रदेशों में जो परिस्पन्दन (हलन-चलन) होता है उसे योग कहते हैं योग के तीन भेद हैं-

मनोयोग - मन के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो हलन-चलन होता है, उसे मनोयोग कहते हैं।

वचनयोग - वचन के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो हलन-चलन होता है, उसे वचनयोग कहते हैं।

काययोग - काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो हलन-चलन होता है, उसे काययोग कहते हैं।

इन तीनों योगों की उत्पत्ति में वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम कारण है॥१॥

आस्रव का स्वरूप

स आस्रवः॥२॥

अर्थ - वह तीन प्रकार का योग ही आस्रव है। जिस प्रकार कुएँ के भीतर पानी आने में झिरे (स्रोत) कारण होती हैं उसी प्रकार आत्मा में कर्म आने में योग कारण है। कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं।

नोट - यद्यपि योग आस्रव के होने में कारण है तथापि सूत्र में कारण में कार्य का उपचार कर उसे आस्रव रूप कह दिया है। जैसे-प्राणों की स्थिति में कारण होने से अन्न को ही प्राण कह देते हैं॥२॥

योग के निमित्त से आस्रव का भेद

शुभः पुण्यस्या-शुभः पापस्य॥३॥

अर्थ - शुभ योग पुण्यकर्म के आस्रव में अशुभयोग पापकर्म के आस्रव में कारण है।

शुभयोग - शुभ परिणामों से रचे हुए योग को शुभ योग कहते हैं। जैसे अरहन्त की भक्ति करना, जीवों की रक्षा करना आदि।

अशुभ योग - अशुभ परिणामों से रचे हुए योग को अशुभ योग कहते हैं- जैसे जीवों की हिंसा करना, झूठ बोलना आदि।

पुण्य - जो आत्मा को पवित्र करे, उसे पुण्य कहते हैं।

पाप - जो आत्मा को अच्छे कार्यों से बचावे-दूर करे, उसे पाप कहते हैं॥३॥

स्वामी की अपेक्षा आस्रव के भेद

सकषाया-कषाययोः साम्परायि-केर्या-पथयोः ॥४॥

अर्थ - वह योग कषाय सहित जीवों के साम्परायिक आस्रव और कषाय रहित जीवों के ईर्यापथ आस्रव का कारण है।

कषाय - जो आत्मा को कषै अर्थात् चारों गतियों में भटका कर दुःख देवे, उसे कषाय कहते हैं। जैसे- क्रोध, मान, माया, लोभ।

साम्परायिक आस्रव - जिस आस्रव का संसार ही प्रयोजन है, उसे साम्परायिक आस्रव कहते हैं।

ईर्यापथ आस्रव - स्थिति और अनुभाग रहित कर्मों के आस्रव को ईर्यापथ आस्रव कहते हैं।

नोट - ईर्यापथ आस्रव ११वें से १३वें गुणस्थान तक के जीवों के होता है और उसके पहले गुणस्थानों में साम्परायिक आस्रव होता है। १४वें गुणस्थान में आस्रव का सर्वथा अभाव हो जाता है॥४॥

साम्परायिक आस्रव के भेद

इन्द्रिय-कषाया-व्रत-क्रियाः पञ्च चतुः पञ्च पञ्चविंशति संख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥

अर्थ - स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियाँ, क्रोधादि चार कषाय, हिंसादि पाँच अव्रत और सम्यक्त्व आदि पच्चीस क्रियाएँ, इस तरह साम्परायिक आस्रव के ३९ भेद हैं, अर्थात् इन सब ३९ भेदों के द्वारा साम्परायिक कर्म का आस्रव होता है। पच्चीस

क्रियाओं का स्वरूप निम्न प्रकार है-

पच्चीस क्रियाएँ-

(१) सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली क्रिया को सम्यक्त्व क्रिया कहते हैं, जैसे देव पूजन आदि।

(२) मिथ्यात्व को बढ़ाने वाली क्रिया को मिथ्यात्व क्रिया कहते हैं, जैसे कुदेव पूजन आदि।

(३) शरीरादि से गमनागमन रूप प्रवृत्ति करना प्रयोग क्रिया है।

(४) संयमी का असंयम के सन्मुख होना सो समादान क्रिया है।

(५) गमन के लिये जो क्रिया होती है उसे ईर्यापथ क्रिया कहते हैं।

(६) क्रोध के वश से जो क्रिया हो वह प्रादोषिकी क्रिया है।

(७) दुष्टतापूर्वक उद्यम करना सो कायिकी क्रिया है।

(८) हिंसा के उपकरण, तलवार आदि का ग्रहण करना सो अधिकरण क्रिया है।

(९) जीवों को दु:ख उत्पन्न करने वाली क्रिया को पारितापिकी क्रिया कहते हैं।

(१०) आयु, इन्द्रिय आदि प्राणों का वियोग करना सो प्राणातिपातिकी क्रिया है।

(११) राग के वशीभूत होकर मनोहर रूप देखना सो दर्शन क्रिया है।

(१२) राग के वशीभूत होकर वस्तु का स्पर्श करना स्पर्शन क्रिया है।

(१३) विषयों के नये-नये कारण मिलाना प्रात्ययिकी क्रिया है।

(१४) स्त्री, पुरुष अथवा पशुओं के बैठने तथा सोने आदि के स्थान में मल-मूत्रादि क्षेपण करना समन्तानुपात क्रिया है।

(१५) बिना देखी, बिना शोधी हुई भूमि पर उठना-बैठना, अनाभोग क्रिया है।

(१६) दूसरे द्वारा करने योग्य क्रिया को स्वयं करना स्वहस्त क्रिया है।

(१७) पाप को उत्पन्न करने वाली प्रवृत्ति को भला समझना निसर्ग क्रिया है।

(१८) पर के किये हुए पापों को प्रकाशित करना विदारण क्रिया है।

(१९) चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से शास्त्रोक्त आवश्यकादि क्रियाओं को करने में असमर्थ होकर अन्यथा निरूपण करना सो आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है।

(२०) प्रमाद अथवा अज्ञान के वशीभूत होकर आगमोक्त क्रियाओं में अनादर करना अनाकांक्षा क्रिया है।

(२१) छेदन, भेदन आदि क्रियाओं में स्वयं प्रवृत्त होना तथा अन्य को प्रवृत्त देखकर हर्षित होना आरम्भिकी क्रिया है।

(२२) परिग्रह की रक्षा में प्रवृत्त होना पारिग्रहिकी क्रिया है।

(२३) ज्ञान दर्शन आदि में कपट रूप प्रवृत्ति करना माया क्रिया है।

(२४) प्रशंसा आदि से किसी मिथ्यात्व रूप परिणति में दृढ़ करना मिथ्यादर्शन क्रिया है।

(२५) चारित्र मोहनीय के उदय से त्यागरूप प्रवृत्ति नहीं होना अप्रत्याख्यान क्रिया है।

आस्रव की विशेषता में कारण

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥६॥

अर्थ - तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण-विशेष और वीर्यविशेष से आस्रव में विशेषता-हीनाधिकता होती है।

तीव्रभाव - अत्यन्त बढ़े हुए, क्रोधादि के द्वारा जो तीव्ररूप भाव होते हैं, उनको तीव्रभाव कहते हैं।

मन्दभाव - क्रषायों की मन्दता से जो भाव होते हैं, उन्हें मन्द भाव कहते हैं।

ज्ञातभाव - यह प्राणी मारने के योग्य है, इस तरह जानकर प्रवृत्त होने को ज्ञातभाव कहते हैं।

अज्ञातभाव - प्रमाद अथवा अज्ञात से प्रवृत्ति करने को अज्ञातभाव कहते हैं।

अधिकरण - जिसके आश्रय अर्थ रहे अथवा आधार को अधिकरण कहते हैं।

वीर्य - द्रव्य की स्वशक्ति विशेष को वीर्य कहते हैं।

अधिकरण के भेद

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥७॥

अर्थ – अधिकरण के दो भेद हैं १. जीव २. अजीव। अर्थात् आस्रव जीव और अजीव दोनों के आश्रय हैं॥७॥

जीवाधिकरण के भेद

आद्यंसंरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमत
कषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः॥८॥

अर्थ – आदि का जीवाधिकरण आस्रव–संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, मन, वचन, कायरूप तीन योग, कृत, कारित, अनुमोदना, तथा क्रोधादि चार कषायों की विशेषता से १०८ भेदरूप है।

भावार्थ – संरम्भादि तीनों में तीन योगों का गुणा करने से ९ भेद हुए। इन ९ भेदों में कृत आदि तीन को गुणा करने पर २७ भेद हुए और इन २७ भेदों में ४ कषाय का गुणा करने से कुल १०८ भेद हुए।

संरम्भ – हिंसादि पापों के करने का मन में विचार करना संरम्भ है।

समारम्भ – हिंसादि पापों के कारणों का अभ्यास करना समारम्भ है।

आरम्भ – हिंसादि पापों के करने का प्रारम्भ कर देना आरम्भ है।

कृत – स्वयं करना कृत है।

कारित – दूसरे से कराना कारित है।

अनुमत – दूसरे के द्वारा किये हुए कार्य को भला समझना अनुमत है॥८॥

अजीवाधिकरण के भेद

निर्वर्तना-निक्षेप-संयोग-निसर्गा-द्वि-चतु-र्द्वि-त्रि-भेदाः परम्॥९॥

अर्थ – पर अर्थात् अजीवाधिकरण आस्रव–दो प्रकार की निर्वर्तना, चार प्रकार का निक्षेप, दो प्रकार का संयोग और तीन प्रकार का निसर्ग इस तरह ११ भेद वाला है।

दो प्रकार की निर्वर्तना – रचना करने को निर्वर्तना कहते हैं। इसके दो भेद हैं– १. मूलगुण निर्वर्तना, २. उत्तरगुण निर्वर्तना। शरीर, मन तथा श्वासोच्छ्वास की रचना करना मूल गुण निर्वर्तना है और काष्ठ, मिट्टी आदि से चित्र आदि की रचना करना उत्तरगुण निर्वर्तना है।

निक्षेप – वस्तु के रखने को निक्षेप कहते हैं– इसके चार भेद हैं– १. अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण, २. दुःप्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण, ३. सहसानिक्षेपाधिकरण और

४. अनाभोग निक्षेपाधिकरण। बिना देखे किसी वस्तु को रखना अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण है। यत्नाचार रहित होकर रखने को दु:प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण कहते हैं। शीघ्रता से रखना सहसा निक्षेपाधिकरण है और किसी वस्तु को योग्य स्थान में न रखकर बिना देखे ही वहाँ रख देना अनाभोगनिक्षेपाधिकरण है।

संयोग – मिला देने का नाम संयोग है। इसके दो भेद हैं– १. भक्तपान संयोग, २. उपकरण संयोग। आहार पानी को दूसरे आहार पानी में मिलाना भक्तपान संयोग है और कमण्डलु आदि उपकरणों को दूसरे की पीछी आदि से पोंछना उपकरण संयोग है।

निसर्ग – प्रवर्तने को निसर्ग कहते हैं। इनके ३ भेद हैं– १. कायनिसर्ग अर्थात् काय को प्रवर्तना, २. वाङ्निसर्ग अर्थात् वचनों को प्रवर्तना और मनोनिसर्ग अर्थात् मन को प्रवर्तना॥९॥

ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता
ज्ञानदर्शनावरणयो:१०॥

अर्थ – ज्ञान और दर्शन के विषय में किये गये प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात ये ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्म के आस्रव हैं।

प्रदोष – किसी धर्मात्मा के द्वारा की गई तत्त्व ज्ञान की प्रशंसा का नहीं सुहाना प्रदोष है।

निह्नव – किसी कारण से अपने ज्ञान को छुपाना निह्नव है।

मात्सर्य – वस्तु स्वरूप को जानकर यह भी पण्डित हो जावेगा ऐसा विचार कर किसी को नहीं पढ़ाना मात्सर्य है।

अन्तराय – किसी के ज्ञानाभ्यास में विघ्न डालना अन्तराय है।

आसादन – दूसरे के द्वारा प्रकाशित होने योग्य ज्ञान को रोक देना आसादन है।

उपघात – सच्चे ज्ञान में दोष लगाना उपघात है॥१०॥

असातावेदनीय का आस्रव

दु:खशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभय-
स्थानान्यसद्वेद्यस्य॥११॥

अर्थ - **आत्मपरोभयस्थानि** = निज पर तथा दोनों के विषय में स्थित, **दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनानि** = दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन ये, **असद्वेद्यस्य** = असातावेदनीय के आस्रव हैं।

दुःख - पीड़ारूप परिणाम विशेष को दुःख कहते हैं।

शोक - अपना उपकार करने वाले पदार्थ का वियोग होने पर विकलता होना शोक है।

ताप - संसार में अपनी निन्दा आदि के हो जाने से पश्चाताप करना ताप है।

आक्रन्दन - पश्चाताप से अश्रुपात करते हुए रोना आक्रन्दन है।

वध - आयु आदि प्राणों का वियोग करना वध है।

परिदेवन - संक्लेश परिणामों का अवलम्बन कर इस तरह रोना कि सुनने वाले के हृदय में दया उत्पन्न हो जावे, सो परिदेवन है।

नोट - यद्यपि शोक आदि दुःख के ही भेद हैं तथापि दुःख की जातियाँ बतलाने के लिये सबका ग्रहण किया है॥११॥

साता वेदनीय का आस्रव

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥१२॥

अर्थ - भूतव्रत्यनुकम्पा, दान, सराग संयम, योग, क्षान्ति और शौच तथा अर्हद्भक्ति आदि, ये सातावेदनीय के आस्रव हैं।

भूतव्रत्यनुकम्पा - भूत-संसार के समस्त प्राणी और व्रती-अणुव्रत या महाव्रतधारी जीवों पर दया करना सो, भूतव्रत्यनुकम्पा है।

दान - निज और पर के उपकारयोग्य वस्तु के देने को दान कहते हैं।

सरागसंयमादि - पाँच इन्द्रिय और मन के विषयों से विरक्त होने तथा छह काय के जीवों की हिंसा न करने को संयम कहते हैं और राग सहित संयम को सरागसंयम कहते हैं।

नोट - यहाँ आदि शब्द से संयमासंयम (श्रावक के व्रत) अकाम निर्जरा (बन्दी खाने आदि में संक्लेशता रहित भोगोपभोग का त्याग करना) और बालतप (मिथ्या दर्शन सहित तपस्या करना) का भी ग्रहण होता है।

योग - इन सबको अच्छी तरह धारण करना योग कहलाता है।

क्षान्ति - क्रोधादि कषाय के अभाव को क्षांति कहते हैं।

शौच - लोभ का त्याग करना शौच है।

नोट - इति शब्द से अर्हद्भक्ति, मुनियों की वैयावृत्ति आदि का ग्रहण करना चाहिये॥१२॥

दर्शन मोहनीय का आस्रव

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य॥१३॥

अर्थ - केवली, श्रुत- (शास्त्र), संघ (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) धर्म और देव इनका अवर्णवाद करना दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव है।

अवर्णवाद - गुणवानों को झूठे दोष लगाना सो अवर्णवाद है।

केवली का अवर्णवाद - केवली ग्रासाहार करके जीवित रहते हैं, इत्यादि कहना सो केवली का अवर्णवाद है।

श्रुत का अवर्णवाद - शास्त्र में माँसभक्षण करना आदि लिखा है, ऐसा कहना सो श्रुत का अवर्णवाद है।

संघ का अवर्णवाद - ये शूद्र हैं, मलिन हैं, नग्न हैं इत्यादि कहना सो संघ का अवर्णवाद है।

धर्म का अवर्णवाद - जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए धर्म में कुछ भी गुण नहीं है- उसके सेवन करने वाले असुर होवेंगे, इत्यादि कहना धर्म का अवर्णवाद है।

देव का अवर्णवाद - देव मदिरा पीते हैं, माँस खाते हैं, जीवों की बलि में प्रसन्न होते हैं, आदि कहना देव का अवर्णवाद है॥१३॥

चारित्र मोहनीय का आस्रव

कषायोदयात्-तीव्र-परिणामश्-चारित्र मोहस्य॥१४॥

अर्थ - कषाय के उदय से होने वाले तीव्र परिणाम चारित्र मोहनीय के आस्रव हैं॥१४॥

नरक आयु का आस्रव

बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः॥१५॥

अर्थ - बहुत आरम्भ और परिग्रह का होना नरक आयु का आस्रव है।

तिर्यञ्च आयु का आस्रव

माया तैर्यग-योनस्य ॥१६॥

अर्थ - माया (छलकपट) तिर्यञ्च आयु का आस्रव है॥१६॥

मनुष्य आयु का आस्रव

अल्पारम्भ-परिग्रहत्वं मानुषस्य ॥१७॥

अर्थ - थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह का होना मनुष्य आयु का आस्रव है।

स्वभाव-मार्दवं-च ॥१८॥

अर्थ - स्वभाव से ही सरल परिणामी होना भी मनुष्य आयु का आस्रव है।

नोट - इस सूत्र को पृथक् लिखने का आशय यह है कि इस सूत्र में बताई हुई बातें देवायु के आस्रव में भी कारण हैं॥१८॥

सब आयुओं का आस्रव

निः शील व्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥१९॥

अर्थ - दिग्व्रतादि ७ शील और अहिंसादि पाँच व्रतों का अभाव भी समस्त आयुओं का आस्रव है।

नोट - शील और व्रत का अभाव रहते हुए जब कषायों में अत्यन्त तीव्रता और अत्यन्त मन्दता होती है तभी वे क्रम से चारों आयुओं के आस्रव का कारण हैं॥१९॥

देव आयु का आस्रव

सराग-संयम-संयमासंयमा-कामनिर्जरा-
बाल-तपांसि दैवस्य ॥२०॥

अर्थ - सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप ये देव आयु के आस्रव हैं॥२०॥

सम्यक्त्वं-च ॥२१॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन भी देव आयु कर्म का आस्रव है।

नोट - १. इस सूत्र को पृथक् लिखने का प्रयोजन यह है कि सम्यक्त्व अवस्था में वैमानिक देवों की ही आयु का आस्रव होता है।

नोट - २. यद्यपि सम्यग्दर्शन किसी भी कर्म के बन्ध में कारण नहीं है तथापि सम्यग्दर्शन की अवस्था में जो रागांश पाया जाता है, उसी से बन्ध होता है। इसी तरह सराग संयम-संयमासंयम आदि के विषय में भी जानना चाहिये॥२१॥

अशुभ नाम कर्म का आस्रव

योगवक्रता-विसंवादनं चाऽशुभस्य नाम्नः॥२२॥

अर्थ - योगों की कुटिलता और विसंवादन-अन्यथा प्रवृति कराना अशुभ नाम कर्म का आस्रव है॥२२॥

शुभ नाम कर्म का आस्रव

तद्-विपरीतं शुभस्य॥२३॥

अर्थ - योग वक्रता और विसंवादन से विपरीत अर्थात् योगों की सरलता और अन्यथा प्रवृति का अभाव ये शुभ नाम कर्म के आस्रव हैं॥२३॥

तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रव

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनति.
चारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागत
पसी-साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुत
प्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावनाप्रव-
चनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य॥२४॥

अर्थ - १. **दर्शनविशुद्धि** = पच्चीस दोष रहित निर्मल सम्यग्दर्शन, २. **विनय सम्पन्नता** = रत्नत्रय तथा उनके धारकों की विनय करना, ३. **शीलव्रतेष्वनतीचार** = अहिंसादि व्रत और उनके रक्षक क्रोध त्याग आदि शीलों में विशेष प्रवृत्ति, ४-५. **अभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ** = निरंतर ज्ञानमय उपयोग रखना और संसार से भयभीत होना 6-7 **शक्ति तस्त्याग तपसी**=यथा शक्ति दान देना और उपवासादि तप करना, ८. **साधुसमाधि** = साधुओं के विघ्न आदि को दूर करना, ९. **वैयावृत्यकरणम्** = रोगी तथा बाल वृद्ध मुनियों की सेवा करना, १०-११-१२-१३. **अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्ति** = अरिहन्त भगवान् की भक्ति करना, दीक्षा

देने वाले आचार्यों की भक्ति करना, उपाध्यायों की भक्ति करना, शास्त्र की भक्ति करना, **१४. आवश्यकापरिहाणिः** = सामायिक आदि छह आवश्यक क्रियाओं में हानि नहीं करना, **१५. मार्ग प्रभावना** = जैन धर्म की प्रभावना करना और, **१६. प्रवचनवत्सलत्वम्** = गौवत्स की तरह धर्मात्मा जीवों से स्नेह रखना। ये सोलह भावनायें तीर्थंकर प्रकृति नामक नामकर्म के आस्रव हैं।

नोट - इन भावनाओं में दर्शनविशुद्धि मुख्य भावना है, उसके अभाव में सबके अथवा यथासंभव हीनाधिक होने पर भी तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव नहीं होता और उसके रहते हुए अन्य भावनाओं के अभाव में भी तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव होता है॥२४॥

नीच गोत्रकर्म के आस्रव

परात्म-निन्दा-प्रशंसे सद्-सद्गुणोच्छादनोद्-
भावने च नीचै-र्गोत्रस्य॥२५॥

अर्थ - **परात्मनिन्दाप्रशंसे** = दूसरे की निन्दा और अपनी प्रशंसा करना, **च** = तथा, **सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने** = दूसरे के मौजूद गुणों को ढांकना और अपने झूठे गुणों को प्रकट करना ये नीच गोत्र कर्म के आस्रव हैं॥२५॥

उच्च गोत्रकर्म के आस्रव

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य॥२६॥

अर्थ - **तद्विपर्ययः** = नीच गोत्र के आस्रवों से विपरीत अर्थात् पर प्रशंसा तथा आत्मनिन्दा, **च** = और, **नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ** = नम्र वृत्ति तथा मद का अभाव ये, **उत्तरस्य** = उच्च गोत्रकर्म के आस्रव हैं॥२६॥

अन्तराय कर्म का आस्रव

विघ्नकरण-मन्तरायस्य॥२७॥

अर्थ - परके दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य में विघ्न करना अन्तराय कर्म के आस्रव हैं॥२७॥

॥ इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रे षष्ठोऽध्यायः॥

सप्तम अध्याय

शुभास्रव का वर्णन

व्रत का लक्षण

हिंसाऽनृत-स्तेया-ब्रह्म-परिग्रहेभ्यो-विरति-र्व्रतम् ॥१॥

अर्थ - हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों से भावपूर्वक विरक्त होना व्रत कहलाता है॥१॥

व्रत के भेद

देशसर्वतोऽणुमहती॥२॥

अर्थ - व्रत के दो भेद हैं- १. अणुव्रत और २. महाव्रत। हिंसादि पापों का एक देश त्याग करने से अणुव्रत और सर्वदेश त्याग करने से महाव्रत होते हैं॥२॥

व्रतों की स्थिरता के कारण

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥३॥

अर्थ - उन व्रतों की स्थिरता के लिये प्रत्येक की पाँच पाँच भावनाएँ हैं।

भावना - किसी वस्तु का बार-बार चिंतवन करना सो भावना है॥३॥

अहिंसा व्रत की पाँच भावनाएँ

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्या-लोकितपान-भोजनानि पञ्च॥४॥

अर्थ - **वाग्गुप्ति** = वचन की प्रवृत्ति को रोकना, **मनोगुप्ति** = मन की प्रवृत्ति को रोकना, **ईर्यासमिति** = चार हाथ जमीन देखकर चलना, **आदाननिक्षेपण समिति** = भूमि को जीवरहित देखकर सावधानी से किसी वस्तु को उठाना, रखना और **आलोकितपान भोजन** = देख शोधकर भोजन पान ग्रहण करना, ये पाँच अहिंसा व्रत की भावनाएँ हैं॥४॥

सत्यव्रत की भावनाएँ

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च॥५॥

अर्थ - **क्रोधप्रत्याख्यान** = क्रोध का त्याग करना, **लोभ प्रत्याख्यान** = लोभ का त्याग करना, **भीरुत्व प्रत्याख्यान** = भय का त्याग करना, **हास्य प्रत्याख्यान** = हास्य का त्याग करना और, **अनुवीचि भाषण** = शास्त्र की आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलना, ये पाँच सत्य व्रत की पाँच भावनाएँ हैं॥५॥

अचौर्य व्रत की भावनाएँ

शून्यागार-विमोचितावास-परोपरोधाकरण-भैक्ष्य -शुद्धि-सधर्माऽविसंवादाः पञ्च॥६॥

अर्थ - **शून्यागार वास** = पर्वतों की गुफा, वृक्ष की कोटर आदि निर्जन स्थानों में रहना, **विमोचितावास** = राजा आदि के द्वारा छुड़वाये हुए दूसरे के स्थान में निवास करना, **परोपरोधाकरण** = अपने स्थान पर ठहरे हुए दूसरे को नहीं रोकना, **भैक्ष्य शुद्धि** = चरणानुयोग शास्त्र के अनुसार भिक्षा की शुद्धि रखना और **सधर्माविसंवाद** = सहधर्मी भाइयों से यह हमारा है, यह आपका है इत्यादि कलह नहीं करना, ये पाँच अचौर्य व्रत की भावनाएँ हैं॥६॥

ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ

स्त्री-राग-कथा-श्रवण तन्-मनोहरांगनिरीक्षण-पूर्वरतानु- स्मरण वृष्येष्ट-रस स्वशरीर-संस्कार त्यागाः पञ्च॥७॥

अर्थ - **स्त्रीरागकथाश्रवण त्याग** = स्त्रियों में राग बढ़ाने वाली कथाओं के सुनने का त्याग, **तन्मनोहराङ्गनिरीक्षण त्याग** = स्त्रियों के मनोहर अंगों के देखने का त्याग करना, **पूर्वरतानुस्मरण त्याग** = अव्रत अवस्था में भोगे हुए विषयों के स्मरण का त्याग करना, **वृष्येष्टरस त्याग** = काम वर्द्धक गरिष्ठ रसों का त्याग और **स्वशरीर संस्कार त्याग** = अपने शरीर के संस्कारों का त्याग करना, ये पाँच ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाएँ हैं॥७॥

परिग्रह-त्याग व्रत की भावनाएँ

मनोज्ञा-मनोज्ञेन्द्रिय-विषय-राग-द्वेष वर्जनानि पञ्च॥८॥

अर्थ - स्पर्शन आदि पाँचो इन्द्रियों के इष्ट-अनिष्ट आदि विषयों में क्रम से रागद्वेष का त्याग करना, ये पाँच परिग्रह त्याग व्रत की भावनाएँ हैं॥८॥

हिंसादि पाँच पापों के विषय में करने योग्य विचार

हिंसा-दिष्विहा-मुत्रापाया-वद्य दर्शनम्॥९॥

अर्थ - **हिंसादिषु** = हिंसादि पाँच पापों के होने पर, **इह** = इस लोक में तथा, **अमुत्र** = परलोक में, **अपायावद्यदर्शनम्** = सांसारिक और पारमार्थिक प्रयोजनों का नाश तथा निन्दा को देखना पड़ता है, ऐसा विचार करें।

भावार्थ - हिंसादि पाप करने से इस लोक तथा परलोक में अनेक आपत्तियाँ प्राप्त होती हैं और निंदा भी होती है, इसलिये इनको छोड़ना ही अच्छा है॥९॥

दुःखमेव वा॥१०॥

अर्थ - अथवा हिंसादिक पाँच पाप दुःखरूप ही हैं ऐसा विचार करें।

नोट - यहाँ कार्य में कारण का उपचार समझना चाहिये, क्योंकि हिंसादि दुःख के कारण हैं, पर यहाँ उन्हें कार्य अर्थात् दुःखरूप वर्णन किया है॥१०॥

निरन्तर चिन्तवन करने योग्य भावनाएँ

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिक-क्लिश्यमानाऽविनयेषु॥११॥

अर्थ - **च** = और, **सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु** = सत्त्व, गुणाधिक, क्लिश्यमान और अविनय जीवों में क्रम से, **मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि** = मैत्री प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावना भावें।

मैत्री - दूसरों को दुःख न हो ऐसे अभिप्राय को मैत्री भावना कहते हैं।

प्रमोद - अधिक गुणों के धारी जीवों को देखकर मुखप्रसन्नता आदि से प्रकट होने वाली अन्तरंग की भक्ति को प्रमोद कहते हैं।

कारुण्य - दुःखी जीवों को देखकर उनके उपकार करने के भावों को कारुण्यभाव कहते हैं।

माध्यस्थ्य - जो जीव तत्त्वार्थ श्रद्धान से रहित हैं तथा हित का उपदेश देने पर विपरीत प्रवृत्ति कहते हैं उनमें राग-द्वेष का अभाव होना सो माध्यस्थ्य भावना है॥११॥

संसार और शरीर के स्वभाव का विचार

जगत्-काय-स्वभावौ वा संवेग वैराग्यार्थम्॥१२॥

अर्थ - संवेग (संसार से भय) और वैराग्य (रागद्वेष के अभाव) के लिए क्रम से संसार और शरीर के स्वभाव का चिंतवन करें॥१२॥

हिंसा पाप का लक्षण

प्रमत्त-योगात् प्राण-व्यपरोपणं हिंसा ॥१३॥

अर्थ - प्रमाद के योग से यथासंभव द्रव्य प्राण वा भाव प्राणों का वियोग करना सो हिंसा है।

नोट १- जिस समय कोई व्रती जीव ईर्यासमिति से गमन कर रहा हो, यदि उस समय कोई क्षुद्र जीव अचानक उसके पैर के नीचे आकर दब जावे तो, वह व्रती उस हिंसा पाप का भागी नहीं होगा क्योंकि उसके प्रमाद नहीं हैं।

नोट २- एक जीव किसी जीव को मारना चाहता था पर मौका न मिलने से मार न सका तो भी वह हिंसा का भागी होगा क्योंकि वह प्रमाद सहित है और अपने भावप्राणों की हिंसा करने वाला है॥१३॥

असत्य का लक्षण

असदभिधानमनृतम्॥१४॥

अर्थ - प्रमाद के योग से जीवों को दु:खदायक वा मिथ्यारूप वचन बोलना सो असत्य है॥१४॥

स्तेय चोरी का लक्षण

अदत्तादानं स्तेयम्॥१५॥

अर्थ - प्रमाद के योग से बिना दी हुई किसी वस्तु को ग्रहण करना सो चोरी है॥१५॥

कुशील का लक्षण

मैथुनमब्रह्म॥१६॥

अर्थ - मैथुन को अब्रह्म अर्थात् कुशील कहते हैं।

मैथुन - चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से राग परिणाम सहित स्त्री-पुरुषों के परस्पर स्पर्शन करने की इच्छा को मैथुन कहते हैं॥१६॥

परिग्रह पाप का लक्षण

मूर्च्छा परिग्रहः॥१७॥

अर्थ - मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं।

मूर्च्छा – बाह्य धन-धान्यादि तथा अन्तरंग क्रोधादि कषायों में 'ये मेरे हैं' ऐसा भाव रखना सो मूर्च्छा है॥१७॥

व्रती की विशेषता

निः शल्यो व्रती ॥१८॥

अर्थ – शल्य रहित जीव ही व्रती है।

शल्य – जो आत्मा को कांटे की तरह दु:ख दे उसे शल्य कहते हैं। उसके तीन भेद हैं– १. मायाशल्य (छलकपट करना), २. मिथ्यात्वशल्य (तत्त्वों का श्रद्धान न होना) और निदानशल्य (आगामी काल में विषयों की वांछा करना)।

जब तक इनमें से एक भी शल्य रहती है, तब तक जीव व्रती नहीं हो सकता।

व्रती के भेद

अगार्यनगारश्च ॥१९॥

अर्थ – अगारी (गृहस्थ) और अनगारी (गृहत्यागी मुनि) इस प्रकार व्रती के दो भेद हैं।

अगारी का लक्षण

अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥

अर्थ – अणु अर्थात् एकदेश व्रत पालने वाला जीव अगारी कहलाता है।

अणुव्रत के पाँच भेद हैं – १. अहिंसाणुव्रत, २. सत्याणुव्रत, ३. अचौर्याणुव्रत, ४. ब्रह्मचर्याणुव्रत, ५. परिग्रहपरिमाणाणुव्रत।

अहिंसाणुव्रत – संकल्पपूर्वक त्रस जीवों की हिंसा का परित्याग करना सो अहिंसाणुव्रत है।

सत्याणुव्रत – राग, द्वेष, भय आदि के वश हो स्थूल असत्य बोलने का त्याग करना सत्याणुव्रत है।

अचौर्याणुव्रत – स्थूल चोरी के त्याग को अचौर्याणुव्रत कहते हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रत – परस्त्री सेवन का त्याग करना सो ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

परिग्रह-परिमाणाणुव्रत – आवश्यकता से अधिक परिग्रह का त्याग कर, शेष का परिमाण करना सो परिग्रह-परिमाणाणुव्रत है॥२०॥

अणुव्रत के सहायक सात शीलव्रत

दिग्देशा-नर्थदण्ड-विरति-सामायिक-प्रोषधोप- वासोप-भोग-परिभोग परिमाणा-तिथि संविभाग व्रत सम्पन्नश्च ॥ २१ ॥

अर्थ - वह व्रती दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डविरतिव्रत इन तीन गुणव्रतों से तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोग-परिणाम और अतिथिसंविभागव्रत इन चार शिक्षाव्रतों से सहित होता है। अर्थात् व्रती श्रावक पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार बारह व्रतों का धारी होता है।

३ गुणव्रत

दिग्व्रत - मरणपर्यन्त सूक्ष्म पापों की निवृत्ति के लिये दशों दिशाओं में आने जाने का परिमाण कर, उससे बाहर नहीं जाना सो दिग्व्रत है।

देशव्रत - जीवन पर्यन्त के लिये किये हुए दिग्व्रत में और भी संकोच करके घड़ी, घण्टा, दिन, महीना आदि तक किसी गृह-मुहल्ले आदि का आना जाना रखना, सो देशव्रत है।

अनर्थदण्डविरतिव्रत - प्रयोजन रहित पापवर्धक क्रियाओं का त्याग करना सो अनर्थदण्डव्रत है। इसके पाँच भेद हैं- १. पापोपदेश (हिंसा, आरम्भ आदि पाप के कामों का उपदेश देना), २. हिंसादान (तलवार आदि हिंसा के उपकरण देना), ३. अपध्यान (दूसरे का बुरा विचारना) ४. दुःश्रुति (राग-द्वेष को बढ़ाने वाले खोटे शास्त्रों का सुनना) और ५. प्रमादचर्या, (बिना प्रयोजन यहाँ वहाँ घूमना तथा पृथ्वी आदि का खोदना)

४ शिक्षाव्रत

१. सामायिक - मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से पाँचों पापों का त्याग करना सो सामायिक है।

२. प्रोषधोपवास - पहले और आगे के दिनों में एकासन के साथ अष्टमी और चतुर्दशी के दिन उपवास आदि करना प्रोषधोपवास है।

३. उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत - भोग और उपभोग की वस्तुओं का परिमाण कर उससे अधिक ममत्व नहीं करना सो उपभोगपरिभोग-परिमाणव्रत है।

४. अतिथिसंविभागव्रत - अतिथि अर्थात् मुनियों के लिये आहार, कमण्डलु, पीछी, वसति का दान देना सो अतिथि संविभाग व्रत है।

व्रती को सल्लेखना धारण करने का उपदेश

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता॥२२॥

अर्थ - गृहस्थ मरण के समय होने वाली सल्लेखना को प्रीतिपूर्वक सेवन करता है।

सल्लेखना - इस लोक अथवा परलोक सम्बन्धी किसी प्रयोजन की अपेक्षा न करके शरीर और कषाय के कृश करने को सल्लेखना कहते हैं।

सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार

शङ्काकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः॥२३॥

अर्थ - **शङ्का** (जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए सूक्ष्म पदार्थों में सन्देह करना, **कांक्षा** (सांसारिक सुखों की इच्छा करना), **विचिकित्सा**, (दुःखी दरिद्री जीवों को अथवा रत्नत्रय से पवित्र पर बाह्य में मलिन मुनियों के शरीर को देखकर ग्लानि करना, **अन्यदृष्टिप्रशंसा** (मन से मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान आदि को अच्छा समझना) और **अन्यदृष्टिसंस्तव** (वचन से मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करना) ये पाँच सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं॥२३॥

५ व्रत और ७ शीलों के अतिचारों की संख्या

व्रत-शीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम्॥२४॥

अर्थ - पाँच व्रत और सात शीलों में भी क्रम से पाँच-पाँच अतिचार होते हैं, जिनका वर्णन आगे के सूत्रों में है॥२४॥

अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार

बन्ध-वधच्छेदाति-भारा-रोपणान्न-पान-निरोधाः॥२५॥

अर्थ - **बंध** = इच्छित स्थान में जाने से रोकने के लिये रस्सी आदि से बाँधना, **वध** = कोड़ा, बेंत आदि से मारना, **छेद** = नाक-कान आदि अंगों का छेदना, **अति भारारोपण** = शक्ति से अधिक भार लादना और **अन्न-पान निरोध** = समय पर खाना पीना नहीं देना, ये पाँच अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं॥२५॥

सत्याणुव्रत के अतिचार

मिथ्योपदेशरहोऽभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासाप-हारसाकारमंत्रभेदाः॥२६॥

अर्थ - **मिथ्योपदेश** = झूठा उपदेश देना, **रहोभ्याख्यान** = स्त्री पुरुष की एकान्त की बात को प्रकट करना, **कूटलेखक्रिया** = झूठे दस्तावेज आदि लिखना, **न्यासापहार** = किसी की धरोहर का अपहरण करना, और **साकारमन्त्रभेद** = हाथ चलाने आदि के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जानकर उसे प्रकाशित कर देना, ये पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं॥२६॥

अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीना
धिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः॥२७॥

अर्थ - **स्तेन प्रयोग** = चोर को चोरी के लिये प्रेरणा करना व उसके उपाय बताना, **तदाहृतादान** = चोर के द्वारा चुराई हुई वस्तु को खरीदना, **विरुद्ध राज्या. तिक्रम** = राजा की आज्ञा के विरुद्ध चलना, कर नहीं देना, **हीनाधिक मानोन्मान** = देने-लेने के बांट तराजू आदि को कमती-बढ़ती रखना, और **प्रतिरूपक व्यवहार** = बहुमूल्य वस्तु में अल्प मूल्य की वस्तु मिलाकर असली भाव से बेचाना, ये पाँच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं॥२७॥

ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीताऽपरिगृहीतागम-
नानंगक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः॥२८॥

अर्थ - **परविवाहकरण** = दूसरे के पुत्र-पुत्रियों का विवाह करना कराना, **परिगृहीते त्वरिकागमन** = पति सहित व्यभिचारिणी स्त्रियों के पास आना-जाना, लेन-देन रखना, रागभाव पूर्वक बातचीत करना, **अपरिगृहीतेत्वरिकागमन** = पति रहित वेश्या आदि व्यभिचारिणी स्त्रियों के यहाँ आना-जाना, लेन-देन आदि का व्यवहार रखना, **अनंगक्रीड़ा** = काम सेवन के लिये निश्चित अंगों को छेड़कर अन्य अंगों से काम सेवन करना, और **कामतीव्राभिनिवेश** = काम सेवन की अत्यन्त अभिलाषा रखना, ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं॥२८॥

परिग्रह परिमाणाणुव्रत के अतिचार

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः॥२९॥

अर्थ - **क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम** = खेत तथा रहने के घरों के प्रमाण का उल्लंघन करना, **हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम** = चांदी और सोने के प्रमाण का उल्लंघन करना, **धनधान्यप्रमाणातिक्रम** = गाय, भैंस आदि पशु तथा गेहूँ चना आदि अनाज के प्रमाण का उल्लंघन करना, और **कुप्यप्रमाणातिक्रम** = वस्त्र तथा बर्तन आदि के प्रमाण का उल्लंघन करना, ये पाँच परिग्रह परिमाणाणुव्रत के अतिचार हैं॥२९॥

दिग्व्रत के अतिचार

ऊर्ध्वाधस्-तिर्यग्-व्यतिक्रम क्षेत्र-वृद्धि-स्मृत्यन्त-राधानानि॥३०॥

अर्थ - **ऊर्ध्वव्यतिक्रम** = प्रमाण से अधिक ऊँचाई वाले पर्वतादि पर चढ़ना, **अधोव्यतिक्रम** = प्रमाण से अधिक नीचाई वाले कुएँ आदि में उतरना, **तिर्यग्व्यतिक्रम** = समान स्थान में प्रमाण से अधिक लम्बा जाना, **क्षेत्रवृद्धि** = प्रमाण किये हुए क्षेत्र को बढ़ा लेना, और **स्मृत्यन्तराधान** = किये हुए प्रमाण को भूल जाना, ये पाँच दिग्व्रत के अतिचार हैं॥३०॥

देशव्रत के अतिचार

आनयन-प्रेष्यप्रयोग-शब्द-रूपानुपात पुद्गलक्षेपाः॥३१॥

अर्थ - **आनयन** = मर्यादा से बाहर की चीज को बुलाना, **प्रेष्यप्रयोग** = मर्यादा के बाहर नौकर आदि को भेजना, **शब्दानुपात** = खांसी आदि के शब्द के द्वारा मर्यादा से बाहर वाले आदमियों को अपना अभिप्राय समझा देना, **रूपानुपात** = मर्यादा के बाहर वाले आदमियों को अपना शरीर दिखाकर इशारा करना, और **पुद्गलक्षेप** = मर्यादा से बाहर कंकर पत्थर फेंकना, ये पाँच देशव्रत के अतिचार हैं॥३१॥

अनर्थदण्डविरतिव्रत के अतिचार

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोप
भोगपरिभोगानर्थक्यानि॥३२॥

अर्थ - **कन्दर्प** = राग से हास्य सहित अशिष्ट वचन बोलना, **कौत्कुच्य** = शरीर से कुचेष्टा करते हुए अशिष्ट वचन बोलना, **मौखर्य** = धृष्टता पूर्वक आवश्यकता

से अधिक बोलना, **असमीक्ष्याधिकरण** = बिना प्रयोजन मन-वचन-काय की अधिक प्रवृत्ति करना, और **उपभोगपरिभोगानर्थक्य** = भोग-उपभोग के पदार्थों का जरूरत से अधिक संग्रह करना, ये पाँच अनर्थदण्डविरतिव्रत के अतिचार हैं॥३२॥

सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार

योग दुष्प्रणिधाना नादर स्मृत्यनुप-स्थानानि॥३३॥

अर्थ - मनोयोग दुष्प्रणिधान = मन की अन्यथा प्रवृत्ति करना, **वाग्योगदुष्प्रणिधान** = वचन की अन्यथा प्रवृति करना, **काययोगदुष्प्रणिधान** = शरीर की अन्यथा प्रवृत्ति करना, **अनादर** = उत्साह रहित होकर सामायिक करना, **स्मृत्यनुपस्थान** = एकाग्रता के अभाव में सामायिक पाठ आदि का भूल जाना, ये पाँच सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार हैं॥३३॥

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रम-णानादरस्मृत्यनुपस्थानानि॥३४॥

अर्थ - अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग = बिना देखी, बिना शोधी हुई जमीन में मल-मूत्रादि का क्षेपण करना, **अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान** = बिना देखे-बिना शोधे हुए पूजन आदि के उपकरण उठाना, **अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान** = बिना देखे-बिना शोधे हुऐ वस्त्र-चटाई आदि को बिछाना, **अनादर** = भूख से व्याकुल होकर आवश्यक धर्म कार्यों को उत्साह रहित होकर करना, और **स्मृत्यनुपस्थान** = करने योग्य आवश्यक धर्म कार्यों को भूल जाना, ये पाँच प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार हैं॥३४॥

उपभोगपरिभोग परिमाणव्रत के अतिचार

सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः॥३५॥

अर्थ - सचित्ताहार = जीव सहित-हरे फल आदि का भक्षण करना, **सचित्त सम्बन्धाहार** = सचित्त पदार्थ से सम्बन्ध को प्राप्त हुई चीज का आहार करना, **सचित्तसन्मिश्राहार** = सचित्त पदार्थ से मिले हुए पदार्थ का आहार करना, **अभिषवाहार** = गरिष्ठ पदार्थ का आहार करना, और **दुःपक्वाहार** = अधपके अथवा अधिक पके हुए पदार्थ का आहार करना, ये पाँच उपभोग, परिभोगपरिमाणव्रत के अतिचार हैं॥३५॥

अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार

सचित्त-निक्षेपापिधान-परव्यपदेश मात्सर्य कालातिक्रमाः ॥ ३६ ॥

अर्थ - **सचित्तनिक्षेप** = सचित्त पत्र आदि में भोजन को रखकर देना, **सचित्ता-पिधान** = सचित्त पत्र आदि से ढके हुये भोजनादि का दान करना, **परव्यपदेश** = दूसरे दाता की वस्तु को देना, **मात्सर्य** = अनादर पूर्वक देना अथवा दूसरे दाता से ईर्ष्या करके देना, और **कालातिक्रम** = योग्य काल का उल्लंघन कर अकाल में देना, ये पाँच अतिथिसंविभाग व्रत के अतिचार हैं॥३६॥

सल्लेखना के अतिचार

जीवित-मरणाशंसा-मित्रानुराग-सुखानुबन्ध-निदानानि ॥ ३७ ॥

अर्थ - **जीविताशंसा** = सल्लेखना धारण कर जीने की इच्छा करना, **मरणाशंसा** = वेदना से व्याकुल होकर शीघ्र मरने की वाञ्छा करना, **मित्रानुराग** = मित्रों का स्मरण करना, **सुखानुबन्ध** = पूर्व काल में भोगे हुये सुखों का स्मरण करना, और **निदान** = आगामी काल में विषयों की इच्छा करना, ये पाँच सल्लेखना व्रत के अतिचार हैं॥३७॥

नोट - ऊपर कहे हुए ९० अतिचारों का त्यागी ही निर्दोष व्रती कहलाता है।

दान का लक्षण

अनुग्रहार्थं स्वास्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥

अर्थ - **अनुग्रहार्थम्** = अपने और पर के उपकार के लिये, **स्वस्य** = धनादिक का, **अतिसर्गः** = त्याग करना, **दानम्** = दान है।

नोट - दान देने में अपना उपकार तो यह है कि पुण्य का बन्ध होता है और पर का उपकार यह है कि दान लेने वाले के सम्यग्ज्ञान आदि गुणों की वृद्धि होती है॥३८॥

किन स्थितियों में दान का महत्व होता है?

विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र-विशेषात्-तद् -विशेषः ॥३९॥

अर्थ - विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दातृविशेष और पात्रविशेष से उस दान में विशेषता होती है।

विधिविशेष - नवधाभक्ति के क्रम को विधि विशेष कहते हैं।

द्रव्यविशेष - तप, स्वाध्याय आदि की वृद्धि में कारण आहार को द्रव्यविशेष कहते हैं।

दातृविशेष - श्रद्धा आदि सप्तगुण सहित दातार को दातृविशेष कहते हैं।

पात्रविशेष - सम्यक्चारित्र आदि गुणसहित मुनि आदि को पात्रविशेष कहते हैं॥३९॥

॥ इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रे सप्तमोऽध्यायः ॥

अष्टम अध्याय

बन्धतत्त्व का वर्णन

बन्ध के कारण

मिथ्यादर्शना-विरतिप्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः ॥१॥

अर्थ - मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पाँच कर्मबन्ध के कारण हैं।

मिथ्यादर्शन - अतत्त्वों के श्रद्धान को अथवा तत्त्वों के श्रद्धान न होने को मिथ्यादर्शन कहते हैं। इनके दो भेद हैं- १. गृहीत मिथ्यादर्शन और २. अगृहीत मिथ्यादर्शन।

गृहीत मिथ्यादर्शन - परोपदेश के निमित्त से जो अतत्त्व श्रद्धान हो, उसे गृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।

अगृहीत मिथ्यादर्शन - परोपदेश के बिना ही केवल मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो अतत्त्व श्रद्धान हो, उसे अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं।

मिथ्यादर्शन के ५ भेद और भी हैं- १. एकान्त, २. विपरीत, ३. संशय, ४. वैनयिक और ५. अज्ञान।

एकान्त मिथ्यादर्शन - अनेक धर्मात्मक वस्तु में यह इसी प्रकार ही है, इस तरह के एकान्त अभिप्राय को एकान्त मिथ्यादर्शन कहते हैं। जैसे- बौद्ध मतवाले वस्तु को अनित्य ही मानते हैं और वेदान्ती सर्वथा नित्य ही मानते हैं।

विपरीत मिथ्यादर्शन - परिग्रह सहित भी गुरु हो सकता है, केवली कवलाहार करते हैं, स्त्री को भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है, इत्यादि उल्टे श्रद्धान को विपरीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।

संशय मिथ्यादर्शन - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये मोक्ष के मार्ग हैं अथवा नहीं, इस प्रकार चलायमान श्रद्धान को संशयमिथ्यादर्शन कहते हैं।

वैनयिक मिथ्यादर्शन - सब प्रकार के देवों को तथा सब प्रकार के मतों को समान मानना वैनयिक मिथ्यादर्शन है।

अज्ञान मिथ्यादर्शन - हिताहित की परीक्षा न करके श्रद्धान करना अज्ञान मिथ्यादर्शन है।

अविरति - छह काय के जीवों की हिंसा के त्याग न करने और पाँच इन्द्रिय तथा मन के विषयों में प्रवृत्ति करने को अविरति कहते हैं। इसके बारह भेद हैं- पृथिवीकायिकाविरति, जलकायिकाविरति इत्यादि।

प्रमाद - ५ समिति, ३ गुप्ति, ८ शुद्धि, १० धर्म इत्यादि अच्छे कार्यों में उत्साह पूर्वक प्रवृत्ति न करने को प्रमाद कहते हैं। इसके १५ भेद हैं।

कषाय - जो आत्मा को कषता या दु:ख देता है उसे कषाय कहते हैं इसके २५ भेद हैं। 16 कषाय और 9 नोकषाय।

योग - मन, वचन, काय के व्यापार को योग कहते हैं इसके १५ भेद हैं- ४ मनोयोग, ४ वचनयोग और ७ काययोग।

नोट - ये मिथ्यादर्शन आदि सम्पूर्ण तथा पृथक् पृथक् बन्ध के कारण हैं अर्थात् किसी के पाँचों ही बन्ध के कारण हैं, किसी के अविरति आदि ४, किसी के प्रमाद आदि ३, किसी के कषाय आदि २ और किसी के सिर्फ एक योग ही बन्ध का कारण है॥१॥

बन्ध का लक्षण

सकषायत्वाज्-जीवः कर्मणो योग्यान्-पुद्गला-नादत्ते स बन्धः॥२॥

अर्थ - **जीवः** = जीव, **सकषायत्वात्** = कषाय सहित होने से, **कर्मणः** = कर्म के, **योग्यान्** = योग्य, **पुद्गलान्** = कार्मण वर्गणारूप पुद्गल परमाणुओं को जो, **आदत्ते** = ग्रहण करता है, **सः** = वह, **बन्धः** = बन्ध हैं।

भावार्थ - सम्पूर्ण लोक में कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल भरे हुए हैं। कषाय के निमित्त से उनका आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाता है। यही बन्ध कहलाता है।

नोट - इस सूत्र में 'कर्मणोयोग्यान्' ऐसा समास न करके जो अलग-अलग ग्रहण किया है, उससे सूत्र का यह अर्थ निकलता है कि- "जीव कर्म से सकषाय होता है और सकषाय होने से कर्म-रूप पुद्गलों को ग्रहण करता है, यही बन्ध कहलाता है"॥२॥

बन्ध के भेद

प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः॥३॥

अर्थ - प्रकृतिबन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध ये बन्ध के चार भेद हैं।

प्रकृतिबन्ध - कर्मों के स्वभाव को प्रकृतिबन्ध कहते हैं।

स्थितिबन्ध - ज्ञानावरणादि कर्मों का अपने स्वभाव से च्युत नहीं होना सो स्थितिबन्ध है।

अनुभागबन्ध - ज्ञानावरणादि कर्मों में फल देने की शक्ति को अनुभागबन्ध कहते हैं।

प्रदेशबन्ध - ज्ञानावरणादि कर्म-रूप होने वाले पुद्गल स्कन्धों के परमाणुओं की संख्या को प्रदेशबन्ध कहते हैं।

नोट - इन चार प्रकार के बन्धों में प्रकृति और प्रदेशबन्ध योग के निमित्त से होते हैं तथा स्थिति और अनुभाग बन्ध कषाय के निमित्त से होते हैं॥३॥

प्रकृति बन्ध का वर्णन प्रकृति बन्ध के मूल भेद

आद्यो-ज्ञान-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीयायु-र्नाम-गोत्रान्तरायाः॥४॥

अर्थ - पहला प्रकृतिबन्ध-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ऐसे आठ प्रकार का है।

ज्ञानावरण - जो आत्मा के ज्ञान गुण को घाते उसे ज्ञानावरण कहते हैं।

दर्शनावरण - जो आत्मा के दर्शन गुण को घाते उसे दर्शनावरण कहते हैं।

वेदनीय - जिसके उदय से जीवों को सुख दुःख होवे, उसे वेदनीय कहते हैं।

मोहनीय - जिसके उदय से जीव अपने स्वरूप को भूल कर अन्य को अपना समझने लगे, उसे मोहनीय कहते हैं।

आयु - जो इस जीव को नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव में से किसी शरीर में रोके रखे, उसे आयु-कर्म कहते हैं।

नाम - जिसके उदय से शरीर आदि की रचना हो, उसे नाम कर्म कहते हैं।

गोत्र - जिसके उदय से यह जीव ऊँच-नीच कुल में पैदा होवे, उसे गोत्र-कर्म कहते हैं।

अन्तराय - जिसके उदय से दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न आवे उसे अन्तराय-कर्म कहते हैं।

नोट - उक्त आठ कर्मों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिया (जीव के अनुजीवी गुणों के घातने वाले) हैं और बाकी के चार कर्म अघातिया (प्रतिजीवी गुणों के घातने वाले) हैं।

प्रकृति बन्ध के उत्तर भेद

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ॥५॥

अर्थ - ऊपर कहे हुए ज्ञानावरणादि कर्म क्रम से ५, ९, २, २८, ४, ४२, २ और ५ भेद वाले हैं॥५॥

ज्ञानावरण के पाँच भेद

मति-श्रुतावधि-मनः पर्यय-केवलानाम् ॥६॥

अर्थ - **मतिज्ञानावरण** = मतिज्ञान को ढाँकने वाला, **श्रुतज्ञानावरण** = श्रुतज्ञान को ढाँकने वाला, **अवधिज्ञानावरण** = अवधिज्ञान को ढाँकने वाला, **मनःपर्यय ज्ञानावरण** = मनःपर्यय ज्ञान को ढाँकने वाला, और **केवलज्ञानावरण** = केवलज्ञान को ढाँकने वाला, ये पाँच ज्ञानावरण कर्म के भेद हैं॥६॥

दर्शनावरण कर्म के भेद

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रा-निद्रानिद्रा प्रचला-प्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥७॥

अर्थ - चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधि दर्शनावरण, केवल दर्शनावरण, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि ये नौ दर्शनावरण कर्म के भेद हैं।

चक्षुदर्शनावरण = जो कर्म चक्षु इन्द्रियों से होने वाले सामान्य अवलोकन को न होने दे, उसे चक्षुदर्शनावरण कहते हैं।

अचक्षुदर्शनावरण = जिस कर्म के उदय से चक्षु इन्द्रिय को छोड़ कर शेष इन्द्रियों तथा मन से पदार्थ का सामान्य अवलोकन न हो सके, उसे अचक्षुदर्शनावरण कहते हैं।

अवधिदर्शनावरण = जो कर्म अवधिज्ञान से पहले होने वाले सामान्य अवलोकन को न होने दे, उसे अवधिदर्शनावरण कहते हैं।

केवलदर्शनावरण = जो कर्म केवलज्ञान के साथ होने वाले सामान्य अवलोकन को न होने दे, उसे केवलदर्शनावरण कहते हैं।

निद्रा - खेद, श्रम आदि को दूर करने के लिये जो शयन करते हैं सो निद्रा है। वह निद्रा जिस कर्म के उदय से हो वह कर्म निद्रा दर्शनावरण है।

निद्रा-निद्रा - नींद के बाद फिर नींद आने को निद्रानिद्रा कहते हैं। निद्रानिद्रा के वशीभूत होकर जीव अपनी आँखों को नहीं खोल सकता।

प्रचला - बैठे-बैठे नेत्र, शरीर आदि में विकार करने वाली, शोक तथा थकावट आदि से उत्पन्न हुई नींद प्रचला कहलाती हैं। प्रचला के वशीभूत हुआ जीव सोता हुआ भी जागता रहता है।

प्रचला-प्रचला - प्रचला के ऊपर प्रचला के आने को प्रचलाप्रचला प्रकृति कहते हैं। प्रचलाप्रचला के द्वारा शयन अवस्था में मुँह से लार बहने लगती है तथा आंगोपांग चलने लगते हैं।

स्त्यानगृद्धि - जिस निद्रा के द्वारा सोती अवस्था में भी नाना तरह के भयंकर कार्य कर डाले और जागने पर कुछ मालूम ही न हो कि मैंने क्या किया है? उसको स्त्यानगृद्धि कहते हैं॥७॥

वेदनीय के भेद

सद-सद्वेद्ये॥८॥

अर्थ - सद्वेद्य और असद्वेद्य ये वेदनीय कर्म के भेद हैं।

सद्वेद्य - जिसके उदय से देव आदि गतियों में शारीरिक तथा मानसिक सुख प्राप्त हो उसे सद्वेद्य कहते हैं।

असद्वेद्य - जिसके उदय से नरकादि गतियों में तरह-तरह के दु:ख प्राप्त हों उसे असद्वेद्य कहते हैं॥८॥

मोहनीय के भेद

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्या-
स्त्रिद्विनवषोडशभेदाःसम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषाय
कषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसकवेदाः अन
न्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः

क्रोधमानमायालोभाः ॥९॥

अर्थ – दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय, अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय इन चार भेदरूप मोहनीय कर्म क्रम से तीन; दो, नौ और सोलह भेदरूप है। जिनमें से सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्व ये तीन दर्शन मोहनीय कर्म के भेद हैं। अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय ये दो भेद चारित्र मोहनीय के हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसक वेद ये ९ अकषाय वेदनीय के भेद हैं और अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन इन चार भेद स्वरूप क्रोध, मान, माया, लोभ ये सोलह भेद कषाय वेदनीय के हैं।

भावार्थ – मोहनीय कर्म के मूल में दो भेद हैं– १. दर्शन मोहनीय और २. चारित्र मोहनीय। उनमें दर्शनमोहनीय के तीन और चारित्र मोहनीय के २५ इस प्रकार कुल मिलाकर मोहनीय कर्म के २८ भेद हैं।

मिथ्यात्व प्रकृति – जिस कर्म के द्वारा सर्वज्ञ कथित मार्ग से पराङ्मुखता हो अर्थात् मिथ्यादर्शन हो उसे मिथ्यात्व प्रकृति कहते हैं।

सम्यक्त्व प्रकृति – जिस प्रकृति के उदय से आत्मा के सम्यग्दर्शन में दोष उत्पन्न हो उसे सम्यक्त्व प्रकृति कहते हैं।

सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति – जिस प्रकृति के उदय से मिले हुए दही–गुड़ के स्वाद की तरह अभय रूप परिणाम हों उसे सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति कहते हैं।

हास्य – जिसके उदय से हँसी आवे वह हास्य नोकषाय है।

रति – जिसके उदय से विषयों में प्रेम हो वह रति है।

अरति – जिसके उदय से विषयों में प्रेम न हो वह अरति है।

शोक – जिसके उदय से शोक–चिन्ता हो वह शोक है।

भय – जिसके उदय से डर लगे वह भय है।

जुगुप्सा – जिसके उदय से ग्लानि हो वह जुगुप्सा है।

स्त्रीवेद – जिसके उदय से स्त्री के साथ रमने के भाव हों वह स्त्री वेद है।

पुरुषवेद – जिसके उदय से पुरुष से रमने के भाव हों वह पुरुषवेद है।

नपुंसकवेद – जिसके उदय से स्त्री–पुरुष दोनों से रमने की इच्छा हो वह

नपुंसकवेद है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ - जो आत्मा के स्वरूपाचरण चारित्र को घाते उसे अनन्तानुबन्धी कहते हैं।

अनन्त संसार का कारण होने से मिथ्यात्व को अनन्त कहते हैं। उसके साथ ही इसका बन्ध होता है इसलिये इसको अनन्तानुबन्धी कहते हैं।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ - जिसके उदय से देशचारित्र न हो सके उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं।

प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ - जो प्रत्याख्यान अर्थात् सकल चारित्र को घाते उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं।

संज्वलन क्रोध मान माया लोभ - जिसके उदय से यथाख्यात चारित्र न हो सके उसे संज्वलन कहते हैं। यह कषाय सम्-अर्थात् संयम के साथ ज्वलित-जागृत रही आती है, इसलिये इसका नाम संज्वलन है।

नोट - इन कषायों में आगे आगे मन्दता है और नीचे-नीचे तीव्रता है।

आयु कर्म भेद

नारक-तैर्यग्योन-मानुष-दैवानि ॥१०॥

अर्थ - नरकायु, तिर्यंचायु, मानुषायु और देवायु ये चार आयुकर्म के भेद हैं।

नारकायु - जिस कर्म के उदय से जीव नारकी के शरीर में रुका रहे उसे नरकायु कहते हैं। उसी तरह सब भेदों में समझना चाहिये॥१०॥

नामकर्म के भेद

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघात-
संस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूप-
घातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयःप्रत्ये-
कशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादे-
ययशःकीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥१०॥

अर्थ - गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास

ये इक्कीस तथा प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यश:कीर्ति ये दश तथा इनसे उल्टे साधारण, स्थावर, दुर्भग, दु:स्वर, अशुभ, स्थूल, अपर्याप्त, अस्थिर, अनादेय, अयश:कीर्ति, ये दश और तीर्थकरत्व इस प्रकार सब मिलाकर नामकर्म के ४२ भेद हैं।

१. गति - जिसके उदय से जीव दूसरे भव को प्राप्त करता है, उसे गति नामकर्म कहते हैं। इसके चार भेद हैं- १. नरकगति, २. तिर्यग्गति, ३. मनुष्यगति और ४. देवगति। जिसके उदय से आत्मा को नरकगति प्राप्त होवे, उसे नरकगति नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भेदों का लक्षण जानना चाहिये।

२. जाति - जिस कर्म के उदय से जीव नरकादि गतियों में अव्यभिचार रूप समानता से एकरूपता को प्राप्त होवे वह जाति नामकर्म है। इसके पाँच भेद हैं- १. एकेंद्रिय जाति, २. द्वींद्रिय जाति, ३. त्रींद्रिय जाति, ४. चतुरिन्द्रिय जाति और ५. पंचेंद्रिय जाति। जिसके उदय से जीव एकेंद्रिय जाति में पैदा हो, उसे एकेंद्रिय जाति नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार सब भेद का लक्षण जानना चाहिये।

३. शरीर - जिस कर्म के उदय से शरीर की रचना हो उसे शरीर नामकर्म कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं- १. औदारिक शरीर नामकर्म, २. वैक्रियिक शरीर नामकर्म, ३. आहारक शरीर नामकर्म, ४. तैजस शरीर नामकर्म और ५. कार्मण शरीर नामकर्म। जिसके उदय से औदारिक शरीर की रचना हो उसे औदारिक शरीर नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार सब भेदों के लक्षण जानना चाहिये।

४. आङ्गोपाङ्ग - जिसके उदय से अङ्ग उपाङ्गों की रचना हो उसे आङ्गोपाङ्ग नामकर्म कहते हैं। इसके तीन भेद हैं- १. औदारिक शरीरांगोपांग, २. वैक्रियिक शरीरांगोपांग और ३. आहारक शरीरांगोपांग। जिसके उदय से औदारिक शरीर के अंग और उपांगों की रचना हो उसे औदारिक शरीरांगोपांग नाम कर्म कहते हैं। इसी प्रकार शेष दो भेदों के लक्षण समझना चाहिये।

५. निर्माण - जिस कर्म के उदय से आंगोपांगों की यथास्थान और यथाप्रमाण रचना हो, उसे निर्माण नामकर्म कहते हैं।

६. बन्धन नाम-कर्म - शरीर नाम कर्म के उदय से ग्रहण किये हुए पुद्गल स्कन्धों का परस्पर सम्बन्ध जिस कर्म के उदय से होता है, उसे बन्धन नाम कर्म कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं- १. औदारिक बन्धन नाम कर्म, २. वैक्रियिक

बन्धन नामकर्म, ३. आहारक बन्धन नाम कर्म, ४. तैजस बन्धन नाम कर्म और ५. कार्मण बन्धन नाम कर्म। जिसके उदय से औदारिक शरीर के परमाणु दीवार में लगे हुये ईंट और गारे की तरह छिद्र सहित परस्पर सम्बन्ध को प्राप्त हों, वह औदारिक बन्धन नाम कर्म है। इसी प्रकार अन्य भेदों का लक्षण जानना चाहिये।

७. संघात नाम-कर्म - जिस कर्म के उदय से औदारिकादि शरीरों के प्रदेशों का छिद्र रहित बन्ध हो, उसे संघात नाम-कर्म कहते हैं। इसके भी ५ भेद हैं औदारिक संघात आदि।

८. संस्थान नाम-कर्म - जिस कर्म के उदय से शरीर का संस्थान अर्थात् आकार बने, उसे संस्थान नाम-कर्म कहते हैं। इसके ६ भेद हैं- १. समचतुरस्रसंस्थान २. न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान ३. स्वातिसंस्थान ४. कुब्जकसंस्थान ५. वामनसंस्थान और ६. हुण्डकसंस्थान।

जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर ऊपर नीचे तथा बीच में समान भागरूप अर्थात् सुडौल हो, उसे समचतुरस्रसंस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर वटवृक्ष की तरह नाभि से नीचे पतला और ऊपर मोटा हो, उसे न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर सर्प की वामी की तरह ऊपर पतला और नीचे मोटा हो, उसे स्वातिसंस्थान नामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कुबड़ा हो उसे कुब्जक संस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से बौना शरीर हो उसे वामनसंस्थान नामकर्म कहते हैं और जिस कर्म के उदय से शरीर के अंगोपांग किसी खास आकृति के न हों उसे हुण्डकसंस्थान नामकर्म कहते हैं।

९. संहनन नाम-कर्म - जिस कर्म के उदय से हड्डियों के बन्धन में विशेषता हो उसे संहनन नामकर्म कहते हैं। इसके ६ भेद हैं- वज्रवृषभनाराच संहनन २. वज्रनाराच संहनन ३. नाराच संहनन ४. अर्द्धनाराच संहनन ५ कीलक संहनन और ६ असंप्राप्तासृपाटिका संहनन।

जिस कर्म के उदय से वृषभ (वेष्टन), नाराच (कील) और संहनन (हड्डियाँ) वज्र की ही हों उसे वज्रवृषभनाराच संहनन नामकर्म कहते हैं॥१॥ जिस कर्म के उदय से वज्र के हाड़ और वज्र की कीलियाँ हो परन्तु वेष्टन वज्र के न हों उसे वज्रनाराच संहनन नामकर्म कहते हैं॥२॥ जिसके उदय से सामान्य वेष्टन और कीली सहित हाड़ हों उसे नाराच संहनन नामकर्म कहते हैं॥३॥ जिसके उदय से हड्डियों

की संधियाँ अर्धकीलित हों उसे अर्धनाराचसंहनन नामकर्म कहते हैं॥४॥ जिसके उदय से हड्डियों परस्पर कीलित हों उसे कीलक संहनन नामकर्म कहते हैं॥५॥ और जिसके उदय से जुड़ी-हड्डियाँ नसों से बन्धी हुई हों, परस्पर में कीलित नहीं हो उसे असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन नामकर्म कहते हैं॥६॥

१०. स्पर्श - जिसके उदय से शरीर में स्पर्श हो उसे स्पर्श नामकर्म कहते हैं। इसके आठ भेद हैं- १. कोमल, २. कठोर, ३. गुरु, ४. लघु, ५. शीत, ६. उष्ण, ७. स्निग्ध, ८.रूक्ष।

११. रस - जिसके उदय से शरीर में रस हो वह रस नामकर्म कहलाता है। इसके ५ भेद हैं- तिक्त (चरपरा), कटु (कटुआ), कषाय (कषायला), आम्ल (खट्टा) और मधुर (मीठा)।

१२. गंध - जिसके उदय से शरीर में गन्ध हो उसे गन्ध नामकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं- १. सुगन्ध, २. दुर्गंध।

१३. वर्ण - जिसके उदय से शरीर में वर्ण अर्थात् रूप हो वह वर्ण नामकर्म है। इसके पाँच भेद हैं- १. शुक्ल, २. कृष्ण, ३. नील, ४. रक्त और ५. पीत।

१४. आनुपूर्व्य - जिस कर्म के उदय से विग्रह गति में मरण से पहले के शरीर के आकार आत्मा के प्रदेश रहते हैं उसे आनुपूर्व्य नामकर्म कहते हैं। इसके चार भेद हैं- १. नरक गत्यानुपूर्व्य, २. तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, ३. मनुष्यगत्यानुपूर्व्य और ४. देवगत्यानुपूर्व्य।

जिस समय आत्मा मनुष्य अथवा तिर्यंच आयु को पूर्ण कर पूर्व शरीर से पृथक् हो, नरकभव के प्रति जाने को सन्मुख होता है, उस समय पूर्व शरीर के आकार आत्मा के प्रदेश जिस कर्म के उदय से होते हैं उसे नरकगत्यानुपूर्व्य कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भेदों के लक्षण जानना चाहिये।

१५. अगुरुलघु नामकर्म - जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे के गोले की तरह भारी और आक के तूल की तरह हल्का न हो, वह अगुरुलघु नामकर्म है।

१६. उपघात - जिस कर्म के उदय से अपने अंगों से अपना घात हो, उसे उपघात नामकर्म कहते हैं।

१७. परघात – जिसके उदय से दूसरे का घात करने वाले अंगोपांग हों, उसे परघात नामकर्म कहते हैं।

१८. आतप – जिस कर्म के उदय से आतपरूप शरीर हो, उसे आतप नामकर्म कहते हैं।

१९. उद्योत – जिसके उदय से उद्योतरूप शरीर हो, उसे उद्योत नामकर्म कहते हैं।

२०. उच्छ्वास – जिसके उदय से शरीर में उच्छ्वास हो, उसे उच्छ्वास नाम कर्म कहते हैं।

२१. विहायोगति – जिसके उदय से आकाश में गमन हो, उसे विहायोगति नाम-कर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं- १. प्रशस्त विहायोगति और २. अप्रशस्त विहायोगति।

२२. प्रत्येक शरीर – जिस नाम कर्म के उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो उसे प्रत्येक शरीर नाम कर्म कहते हैं।

२३. साधारण शरीर – जिसके उदय से एक शरीर के अनेक जीव स्वामी हों उसे साधारण शरीर नाम कर्म कहते हैं।

२४. त्रस नाम कर्म – जिसके उदय से द्वीन्द्रियादिक जीवों में जन्म हो उसे त्रस नामकर्म कहते हैं।

२५. स्थावर नाम कर्म – जिसके उदय से एकेन्द्रिय जीवों में जन्म हो उसे स्थावर नाम कर्म कहते हैं।

२६. सुभग नाम कर्म – जिसके उदय से दूसरे जीवों को अपने से प्रीति उत्पन्न हो उसे सुभग नाम कर्म कहते हैं।

२७. दुर्भग नाम कर्म – जिस कर्म के उदय से रूपादि गुणों से युक्त होने पर भी दूसरे जीवों को अपने से अप्रीति उत्पन्न हो उसे दुर्भग नाम कर्म कहते हैं।

२८. सुस्वर – जिसके उदय से उत्तम स्वर (आवाज) हो उसे सुस्वर नाम कर्म कहते हैं।

२९. दुःस्वर – जिसके उदय से खराब स्वर हो उसे दुःस्वर नाम कर्म कहते हैं।

३०. शुभ – जिसके उदय से शरीर के अवयव सुन्दर हों उसे शुभ नाम कर्म कहते हैं।

३१. अशुभ – जिसके उदय से शरीर के अवयव देखने में मनोहर न हों उसे अशुभ नाम कर्म कहते हैं।

३२. सूक्ष्म – जिसके उदय से ऐसा शरीर प्राप्त हो जो न किसी को रोक सकता हो और न किसी से रोका जा सकता हो, उसे सूक्ष्म शरीर नाम कर्म कहते हैं।

३३. बादर (स्थूल) – जिस कर्म के उदय से दूसरे को रोकने वाला तथा दूसरे से रुकने वाला स्थूल शरीर प्राप्त हो, उसे बादर शरीर नाम कर्म कहते हैं।

३४. पर्याप्ति नाम कर्म – जिसके उदय से अपने योग्य पर्याप्ति पूर्ण हों उसे पर्याप्ति नाम कर्म कहते हैं।

३५. अपर्याप्ति नाम कर्म – जिस कर्म के उदय से जीव के एक भी पर्याप्ति पूर्ण न हो उसे अपर्याप्ति नाम कर्म कहते हैं।

३६. स्थिर – जिस कर्म के उदय से शरीर की धातुएँ (रस, रुधिर, माँस, मेद, हाड़, मज्जा और शुक्र) तथा उपधातुएँ (वात, पित्त, कफ, शिरा, स्नायु, चाम और जठराग्नि) अपने-अपने स्थान में स्थिरता को प्राप्त हों उसे स्थिर नाम कर्म कहते हैं।

३७. अस्थिर – जिस कर्म के उदय से शरीर की धातुएँ, उपधातुएँ अपने-अपने स्थान पर स्थिर न रहें, उसे अस्थिर नाम कर्म कहते हैं।

३८. आदेय – जिसके उदय से प्रभा सहित शरीर हो उसे आदेय नाम कर्म कहते हैं।

३९. अनादेय – जिसके उदय से प्रभारहित शरीर हो उसे अनादेय नाम कर्म कहते हैं।

४०. यश:कीर्ति – जिसके उदय से संसार में जीव की प्रशंसा हो उसे यश:कीर्ति नाम कर्म कहते हैं।

४१. अयश:कीर्ति – जिसके उदय से जीव की संसार में निन्दा हो उसे अयश:कीर्ति नाम कर्म कहते हैं।

४२. तीर्थकरत्व – अरिहन्त पद के कारणभूत कर्म को तीर्थकरत्व नाम कर्म कहते हैं।

गोत्र-कर्म के भेद

उच्चैर्नीचैश्च ॥१२॥

अर्थ - उच्च गोत्र और नीच गोत्र ये दो भेद गोत्र कर्म के हैं।

१. उच्च गोत्र - जिसके उदय से लोकमान्य कुल में जन्म हो, उसे उच्च गोत्र-कर्म कहते हैं।

२. नीच गोत्र - जिस कर्म के उदय से लोकनिन्द्य कुल में जन्म हो, उसे नीच गोत्र-कर्म कहते हैं।

अन्तराय कर्म के भेद

दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणाम् ॥१३॥

अर्थ - दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ये अन्तराय कर्म के ५ भेद हैं। जिसके उदय से दान की इच्छा रखता हुआ भी दान न कर सके उसे दानान्तराय कर्म कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भेदों के भी लक्षण समझना चाहिये ॥१३॥

स्थिति बन्ध का वर्णन

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय की उत्कृष्ट स्थिति

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥१४॥

अर्थ - आदि के तीन ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ा-कोड़ी सागर की है।

नोट - मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेंन्द्रिय पर्याप्तक जीव के ही इस उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होता है ॥१४॥

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति

सप्तति-र्मोहनीयस्य ॥१५॥

अर्थ - मोहनीय-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर की है॥१५॥

नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥१६॥

अर्थ - नाम कर्म और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ा कोड़ी सागर की है।

आयु-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति

त्रयस्-त्रिंशत्-सागरोप-माण्यायुषः ॥१७॥

अर्थ - आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेंतीस सागर की है। ॥१७॥

वेदनीय-कर्म की जघन्य स्थिति

अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१८॥

अर्थ - वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त की है॥१८॥

नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति

नाम-गोत्रयो-रष्टौ ॥१९॥

अर्थ - नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त की है॥१९॥

शेष पाँच कर्मों की जघन्य स्थिति

शेषाणा-मन्तर्मुहूर्ता ॥२०॥

अर्थ - बाकी के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय और आयु कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है॥२०॥

अनुभाग (अनुभाग) बन्ध का वर्णन

अनुभव बन्ध का लक्षण

विपाकोऽनुभवः ॥२१॥

अर्थ - कषायों की तीव्रता, मन्दता अथवा मध्यमता से जो आस्रव में विशेषता होती है, उससे होने वाले विशेष पाक को विपाक कहते हैं। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव के निमित्त के वश से नाना रूपता को प्राप्त होने वाले पाक को विपाक कहते हैं और इस पाक को ही अनुभव अर्थात् अनुभाग बन्ध कहते हैं॥२१॥

नोट - **(१)** शुभ परिणामों की अधिकता होने पर शुभ प्रकृतियों में अधिक और अशुभ प्रकृतियों में हीन अनुभाग होता है।

नोट - (२) अशुभ परिणामों की अधिकता होने पर अशुभ प्रकृतियों में अधिक और शुभ प्रकृतियों में हीन अनुभाग होता है।

स यथा नाम ॥२२॥

अर्थ - वह अनुभाग बन्ध कर्मों के नामानुसार ही होता है॥२२॥

भावार्थ - जिस कर्म का जैसा नाम है, उसमें वैसा ही अनुभाग बन्ध पड़ता है। जैसे- ज्ञानावरण कर्म में 'ज्ञान को रोकना' दर्शनावरण कर्म में 'दर्शन को रोकना' आदि॥२२॥

फल दे चुकने के बाद कर्मों का क्या होता है?

ततश्च निर्जरा ॥२३॥

अर्थ - तीव्र, मन्द या मध्यम फल दे चुकने के बाद कर्मों की निर्जरा होती है। अर्थात् कर्म उदय में आकर आत्मा से पृथक हो जाते हैं॥२३॥

निर्जरा के दो भेद हैं - १. सविपाक निर्जरा और २. अविपाक निर्जरा।

सविपाक निर्जरा - शुभ-अशुभ कर्मों को जिस प्रकार बांधा था, उसी प्रकार स्थितिपूर्ण होने पर फल देकर आत्मा से पृथक् होने को सविपाक निर्जरा कहते हैं।

अविपाक निर्जरा - उदयकाल प्राप्त न होने पर भी तप आदि उपायों से बीच में ही फल भोग कर खिरा देने को अविपाक निर्जरा कहते हैं।

नोट - इस सूत्र में जो 'च' शब्द का ग्रहण किया है, उससे नवम अध्याय के 'तपसा निर्जरा च' इस सूत्र से सम्बन्ध सिद्ध होता है, जिससे यह सिद्ध हुआ कि कर्मों की निर्जरा तप से भी होती है। अर्थात् उक्त दो प्रकार की निर्जरा के कारण क्रम से कर्मों का विपाक और तपश्चरण है।

प्रदेशबन्ध का स्वरूप

नाम-प्रत्ययाः सर्वतो योग-विशेषात् सूक्ष्मैक-क्षेत्राव-गाह-स्थिताः सर्वात्म प्रदेशेष्व-नन्तानन्त प्रदेशाः॥२४॥

अर्थ - **नामप्रत्ययाः** = ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के कारण, **सर्वतः** = सब ओर से अथवा देव नारकादि समस्त भवों में, **योगविशेषात्** = मन, वचन, काय-रूप योग विशेष से, **सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः** = सूक्ष्म तथा एकक्षेत्रावगाहरूप स्थित,

सर्वात्मप्रदेशेषु = सम्पूर्ण आत्मा के प्रदेशों में जो, **अनन्तानन्तप्रदेशाः** = कर्म रूप पुद्गल के अनन्तानन्त प्रदेश हैं, उनको प्रदेशबन्ध कहते हैं॥२४॥

नोट - उक्त सूत्र में प्रदेशबन्ध के विषय में होने वाले निम्नलिखित ६ प्रश्नों का समाधान किया गया है।

(१) किसके कारण है? (२) किस समय होता है? (३) किस कारण से होता है? (४) किस स्वभाव वाला है? (५) किसमें होता है और (६) कितनी संख्या वाला है?

भावार्थ - आत्मा के योग विशेषों द्वारा त्रिकाल में बँधने वाले, ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के कारणभूत, आत्मा के समस्त प्रदेशों में व्याप्त होकर कर्म रूप परिणमने योग्य सूक्ष्म, आत्मा के प्रदेशों में क्षीर-नीर की तरह एक होकर स्थिर रहने वाले तथा अनन्तानन्त प्रदेशों का प्रमाण लिये प्रदेशबन्ध रूप पुद्गल-स्कन्धों को प्रदेशबन्ध कहते हैं॥२४॥

पुण्य प्रकृतियाँ

सद्-वेद्य-शुभायु-र्नाम-गोत्राणि पुण्यम्॥२५॥

अर्थ - साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

नोट - घातिया कर्मों की समस्त प्रकृतियाँ पाप-रूप हैं किन्तु अघातिया कर्मों में पुण्य और पाप दोनों रूप हैं। उनमें से ६८ प्रकृतियाँ पुण्यरूप हैं।

पाप प्रकृतियाँ

अतोऽन्यत्-पापम्॥२६॥

अर्थ - इससे भिन्न अर्थात् साता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और अशुभ गोत्र ये पाप प्रकृतियाँ हैं॥२६॥

॥ इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रे अष्टमोऽध्यायः॥

नवम अध्याय

संवर और निर्जरा तत्त्व का वर्णन

संवर का लक्षण

आस्रव निरोधः संवरः॥२०॥

अर्थ - आस्रव का रोकना सो संवर है अर्थात् आत्मा में जिन कारणों से कर्मों का आस्रव होता था, उन कारणों को दूर कर देने से जो कर्मों का आना बन्द हो जाता है उसको संवर कहते हैं।

संवर के करण

स-गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा- परीषहजय-चारित्रैः॥२॥

अर्थ - वह संवर तीन गुप्ति, पाँच समिति, दशधर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहों को जीतना और पाँच प्रकार का चारित्र इन छः कारणों से होता है॥२॥

गुप्ति - संसार-भ्रमण के कारणस्वरूप मन, वचन और काय इन तीन योगों के निग्रह करने को गुप्ति कहते हैं।

समिति - जीवों की हिंसा से बचने के लिये यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करने को समिति कहते हैं।

धर्म - जो आत्मा को संसार के दुःखों से छुड़ा कर अभीष्ट स्थान में प्राप्त करावे, उसे धर्म कहते हैं।

अनुप्रेक्षा - शरीरादिक के स्वरूप का बार-बार चिन्तवन करने को अनुप्रेक्षा कहते हैं।

परीषहजय -भूख आदि की वेदना उत्पन्न होने पर कर्मों की निर्जरा करने के लिये उसे शान्त भावों से सह लेना सो परीषहजय है।

चारित्र - कर्मों के आस्रव में कारणभूत बाह्य आभ्यन्तर क्रियाओं के रोकने को चारित्र कहते हैं॥२॥

निर्जरा और संवर का कारण

तपसा निर्जरा च ॥३॥

अर्थ - तप से निर्जरा और संवर दोनों होते हैं॥३॥

नोट - (१) तप का दश प्रकार के धर्मों में अन्तर्भाव हो जाने पर भी जो अलग से ग्रहण किया है, उसका प्रयोजन यह है कि वह संवर और निर्जरा दोनों का कारण है तथा संवर का प्रधान कारण है।

नोट - (२) यद्यपि पुण्य कर्म का बन्ध होना भी तप का फल है, तथापि तप का प्रधान फल कर्मों की निर्जरा ही है। जब तप में कुछ न्यूनता होती है, तब उससे पुण्य कर्म का बन्ध हो जाता है इसलिये पुण्य का बन्ध होना तप का गौण फल है। जैसे खेती करने का प्रधान फल तो धान्य उत्पन्न होना है और गौण फल पलाल (प्यांल) आदि का उत्पन्न होना है॥३॥

गुप्ति का लक्षण व भेद

सम्यग्योग - निग्रहो गुप्तिः ॥४॥

अर्थ - भले प्रकार से अर्थात् विषयाभिलाषा को छोड़कर मन, वचन, काय की स्वच्छन्द प्रवृत्ति के रोकने को गुप्ति कहते हैं। उनके तीन भेद हैं- १. मनोगुप्ति (मन को रोकना), २. वचनगुप्ति (वचन को रोकना) ३. कायगुप्ति (शरीर को वश में करना)॥४॥

समिति के भेद

ईर्या-भाषैषणा-दान-निक्षेपोत्सर्गाः समितयः॥५॥

अर्थ - **सम्यग्ईर्या** = चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना, **सम्यग् भाषा** = हित, मित, प्रिय वचन बोलना, **सम्यग् एषण** = दिन में एक बार शुद्ध निर्दोष आहार लेना, **सम्यग् आदान निक्षेपण** = देख-भालकर किसी वस्तु को उठाना रखना, **सम्यग् उत्सर्ग** = जीव रहित स्थान में मलमूत्र क्षेपण करना, ये पाँच समिति के भेद हैं॥५॥

दश धर्म

उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः॥६॥

अर्थ - **उत्तम क्षमा** = क्रोध के कारण के उपस्थित रहते हुए भी क्रोध नहीं करना, **उत्तम मार्दव** = उत्तम, कुल, विद्या, बल आदि का घमण्ड नहीं करना, **उत्तम आर्जव** = मायाचार का त्याग करना, **उत्तम शौच** = लोभ का त्याग कर आत्मा को पवित्र बनाना, **उत्तम सत्य** = रागद्वेष पूर्वक असत्य वचनों को छोड़कर हित, मित, प्रिय वचन बोलना, **उत्तम संयम** = पाँच इन्द्रिय और मन को वश में करना तथा छः काय के जीवों की रक्षा करना, **उत्तम तप**=बाह्य और आभ्यन्तर तप करना। **उत्तम त्याग** = कीर्ति तथा प्रत्युपकार की वांछा से रहित होकर चार प्रकार का दान देना, **उत्तम आकिंचन्य** = पर पदार्थों में ममत्व रूप परिणामों का त्याग करना, **उत्तम ब्रह्मचर्य** = स्त्रीमात्र का त्याग कर आत्मा के शुभ स्वरूप में लीन रहना, ये दश धर्म हैं॥६॥

बारह अनुप्रेक्षाएँ

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरा-
लोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥७॥

अर्थ - अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इन बारह के स्वरूप को बार-बार चिन्तवन करना सो अनुप्रेक्षा है॥७॥

अनित्यानुप्रेक्षा - संसार के समस्त पदार्थ इन्द्रधनुष, बिजली अथवा जल के बबूले के समान शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाले हैं, ऐसा विचार करना सो अनित्यानुप्रेक्षा है।

अशरणभावना - जिस प्रकार निर्जन वन में भूखे सिंह के द्वारा पकड़े हुए हरिण के बच्चे को कोई शरण नहीं है, उसी प्रकार इस संसार में मरते हुए जीव को कोई शरण नहीं है। यदि अच्छे भावों से धर्म का सेवन किया है, तो वही आपत्तियों से बचा सकता है। इस प्रकार चिन्तवन करना सो अशरण-अनुप्रेक्षा है।

संसारानुप्रेक्षा - इस चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करता हुआ जीव पिता से पुत्र, पुत्र से पिता, स्वामी से दास, दास से स्वामी हो जाता है। और तो क्या स्वयं अपना ही पुत्र हो जाता है, इत्यादि संसार के दुःखमय स्वरूप का विचार करना सो संसारानुप्रेक्षा है।

एकत्वानुप्रेक्षा - जन्म, जरा, मरण, रोग आदि के दुःख मैं अकेला ही भोगता हूँ, कुटुम्बी आदि जन साथी नहीं हैं, इत्यादि विचार करना सो एकत्वानुप्रेक्षा है।

अन्यत्वानुप्रेक्षा - शरीरादि से अपनी आत्मा को भिन्न चिन्तवन करना सो अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

अशुचित्वानुप्रेक्षा – यह शरीर महा अपवित्र है, खून माँस आदि से भरा हुआ है, स्नान आदि से कभी पवित्र नहीं हो सकता। इससे सम्बन्ध रखने वाले दूसरे पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं, इत्यादि शरीर की अपवित्रता का विचार करना अशुचित्वानुप्रेक्षा है।

आस्रवानुप्रेक्षा – मिथ्यात्व आदि भावों से कर्मों का आस्रव होता है, आस्रव ही संसार का मूल कारण है। इस प्रकार विचार करना सो आस्रवानुप्रेक्षा है।

संवरानुप्रेक्षा – आत्मा में नवीन कर्मों का प्रवेश नहीं होने देना सो संवर है, संवर से ही जीवों का कल्याण होता है। ऐसा विचार करना सो संवरानुप्रेक्षा है।

निर्जरानुप्रेक्षा – सविपाकनिर्जरा से आत्मा का कुछ भला नहीं होता, किन्तु अविपाकनिर्जरा से ही आत्मा का कल्याण होता है इत्यादि निर्जरा के स्वरूप का चिन्तवन करना सो निर्जरानुप्रेक्षा है।

लोकानुप्रेक्षा – अनन्त अलोकाकाश के ठीक बीच में रहने वाले चौदह राजु-प्रमाण लोक के आकारादिक का चिन्तवन करना सो लोकानुप्रेक्षा है।

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा – रत्नत्रय-रूप बोधि का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, इस प्रकार विचारना सो बोधिदुर्लभ भावना है।

धर्मस्वाख्यातत्त्वानुप्रेक्षा – जिनेन्द्र भवगान् के द्वारा कहा हुआ अहिंसा लक्षण वाला धर्म ही जीवों का कल्याण करने वाला है। इसके प्राप्त न होने से ही जीव चतुर्गति के दु:ख सहते हैं, आदि विचार करना सो धर्मस्वाख्यातत्त्वानुप्रेक्षा है।

नोट – इन अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करने वाला जीव उत्तमक्षमा आदि धर्मों को पालता है और परीषहों को जीतता है। इसलिये इनका कथन दोनों के बीच में किया गया है॥७॥

परीषह सहन करने का उपदेश

मार्गाच्यवननिर्जरार्थंपरिषोढव्याः परीषहाः ॥८॥

अर्थ – संवर के मार्ग से च्युत न होने के लिये तथा कर्मों की निर्जरा के हेतु बाईस परीषह सहन करने के योग्य हैं।

बाईस परीषह

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्या-
निषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्श-
मलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानादर्शनानि ॥९॥

अर्थ – १. क्षुधा २. तृषा ३. शीत ४. उष्ण ५. दंशमशक ६. नाग्न्य ७. अरति ८. स्त्री ९. चर्या १०. निषद्या ११. शैय्या १२. आक्रोश १३. वध १४. याचना १५. अलाभ १६. रोग १७. तृण-स्पर्श १८. मल १९. सत्कार-पुरस्कार २०. प्रज्ञा २१. अज्ञान २२. अदर्शन-ये बाईस परीषह हैं॥९॥

क्षुधा – क्षुधा (भूख) के दु:ख को शान्त भाव से सह लेना सो क्षुधा परीषहजय है।

तृषा – पिपासा रूपी अग्नि को धैर्य रूपी जल से शान्त करना तृषा परीषहजय है।

शीत – शीत की वेदना को शान्त भावों से सहना शीत परीषहजय है।

उष्ण – गर्मी की वेदना को शान्त भावों से सहना उष्ण परीषहजय है।

दंशमशक – डांश, मच्छर, बिच्छू, चींटी आदि के काटने से उत्पन्न हुई वेदना को शान्त भावों से सहना सो दंशमशक परीषह जय है।

नाग्न्य – नग्न रहते हुए भी मन में किसी प्रकार का विकार नहीं करना सो नाग्न्य परीषहजय है।

अरति – अरति के कारण उपस्थित होने पर भी संयम में अरति अर्थात् अप्रीति नहीं करना सो अरति परीषहजय है।

स्त्री – स्त्रियों के हावभाव, प्रदर्शन आदि उपद्रवों को शान्त भाव से सहना, उन्हें देखकर मोहित नहीं होना सो स्त्री परीषहजय है।

चर्या – गमन करते समय खेदखिन्न नहीं होना सो चर्या परीषहजय है।

निषद्या – ध्यान के लिये नियमित काल पर्यंत स्वीकार किये हुए आसन से च्युत नहीं होना सो निषद्या परीषहजय है।

शय्या – विषम, कठोर, कंकरीले आदि स्थानों में एक करवट से निद्रा लेना और अनेक उपसर्ग आने पर भी शरीर को चलायमान नहीं करना सो शय्या परीषहजय है।

आक्रोश – दुष्ट जीवों के द्वारा कहे हुए कठोर शब्दों को शान्त भावों से सह लेना सो आक्रोश परीषहजय है।

वध – तलवार आदि के द्वारा शरीर पर प्रहार करने वाले से भी द्वेष नहीं करना सो वध परीषहजय है।

याचना – प्राणों का वियोग होने पर भी आहारादिक को नहीं माँगना सो याचना परीषहजय है।

अलाभ – भिक्षा के प्राप्त न होने पर सन्तोष धारण करना सो अलाभ परीषहजय है।

रोग – अनेक रोग होने पर भी उनकी वेदना को शान्त भावों से सह लेना सो रोग परीषहजय है।

तृणस्पर्श – चलते समय पाँवों में तृणकण्टक आदि के चुभ जाने से उत्पन्न हुए दु:ख को सहना सो तृणस्पर्श परिषहजय है।

मल परीषहजय – जलकायिक जीवों की हिंसा से बचने के लिये स्नान करना तथा अपने मलिन शरीर को देखकर ग्लानि नहीं करना सो मल परीषहजय है।

सत्कार-पुरस्कार – अपने में गुणों की अधिकता होने पर भी यदि कोई सत्कार पुरस्कार न करे तो चित्त में कलुषता न करना सो सत्कार-पुरस्कार परीषहजय है।

प्रज्ञा – ज्ञान की अधिकता होने पर भी मान नहीं करना सो प्रज्ञा परीषहजय है।

अज्ञान – ज्ञानादिक की हीनता होने पर लोगों के द्वारा किये हुए तिरस्कार को शान्त भावों से सह लेना अज्ञान परीषहजय है।

अदर्शन – बहुत समय तक कठोर तपश्चर्या करने पर भी मुझे अवधिज्ञान तथा चारण आदि ऋद्धियों की प्राप्ति नहीं हुई इसलिये व्रत धारण करना व्यर्थ है, इस प्रकार अश्रद्धा के भाव नहीं होना सो अदर्शन परिषहजय है।

नोट – उक्त बाईस परीषहों को संक्लेश रहित भावों से जीत लेने पर संवर होता है।

किस गुणस्थान में कितने परीषह होते हैं ?

सूक्ष्म-साम्पराय-छद्मस्थ वीतरागयोश्-चतुर्दश ॥१०॥

अर्थ – सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशवें और छद्मस्थ वीतराग अर्थात् ग्यारहवें उपशांतमोह तथा बारहवें क्षीणमोह नामक गुणस्थान में १४ परीषह होते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं– १. क्षुधा २. तृषा ३. शीत ४. उष्ण ५. दंशमशक ६. चर्या ७. शय्या ८. वध ९. अलाभ १०. रोग ११. तृणस्पर्श १२. मल १३. प्रज्ञा और १४. अज्ञान ॥१०॥

एकादश जिने ॥११॥

अर्थ – सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान में रहने वाले जिनेन्द्र भगवान्

के ऊपर लिखे हुए १४ परीषहों में से अलाभ, प्रज्ञा और अज्ञान को छोड़ कर शेष ११ परीषह होते हैं॥११॥

नोट - जिनेन्द्र भगवान् के वेदनीय कर्म का उदय होने से उसके उदय से होने वाले ११ परीषह कहे गये हैं। यद्यपि मोहनीय कर्म का उदय न होने से भगवान् को क्षुधादिक की वेदना नहीं होती। तथापि इन परीषहों का कारण वेदनीय कर्म मौजूद है, इसलिये उपचार से ११ परीषह कहे गये हैं। वास्तव में उनके एक भी परीषह नहीं होता है॥११॥

बादर साम्पराये सर्वे॥१२॥

अर्थ - बादर साम्पराय अर्थात् स्थूल कषाय वाले छठवें से नवमें गुणस्थान तक सब परीषह होते हैं। क्योंकि इन गुणस्थानों में परीषहों के कारणभूत सब कर्मों का उदय है।

कौन परीषह किस कर्म के उदय से होता है ?

ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने॥१३॥

अर्थ - प्रज्ञा और अज्ञान ये दो परीषह ज्ञानावरण कर्म के उदय से होते हैं॥१३॥

दर्शन-मोहान्तराययो-रदर्शना-लाभौ॥१४॥

अर्थ - दर्शन मोहनीय और अन्तराय कर्म का उदय होने पर क्रम से अदर्शन और अलाभ परीषह होते हैं॥१४॥

चारित्रमोहे नाग्न्या-रति-स्त्री-निषद्या-क्रोश-याचना-सत्कार-पुरस्काराः॥१५॥

अर्थ - चारित्र मोहनीय कर्म का उदय होने पर नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार ये ७ परीषह होते हैं॥१५॥

वेदनीये शेषाः॥१६॥

अर्थ - शेष के ग्यारह परीषह (क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल) वेदनीय कर्म के उदय से होते हैं॥१६॥

एक साथ होने वाले परीषहों की संख्या

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः॥१७॥

अर्थ - **युगपत्** = एक साथ, **एकस्मिन्** = एक जीव में, **एकादयः** = एक को आदि लेकर, **आ एकोनविंशतेः** = उन्नीस परीषह तक, **भाज्या** = विभक्त करना चाहिये।

भावार्थ - एक जीव के एक काल में अधिक से अधिक १९ परीषह हो सकते हैं, क्योंकि शीत और उष्ण इन दो परीषहों में से एक काल में एक ही होगा तथा शय्या, चर्या और निषद्या इन तीनों में से भी एक काल में एक ही होगा। इस प्रकार ३ परीषह कम कर दिये गये हैं।

पाँच चारित्र

सामायिकच्छेदोप-स्थापना-परिहार विशुद्धि सूक्ष्म-साम्पराय यथाख्यात-मिति चारित्रम् ॥१८॥

अर्थ - सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ये चारित्र के पाँच भेद हैं॥१८॥

सामायिक चारित्र - भेद रहित सम्पूर्ण पापों के त्याग करने को सामायिक चारित्र कहते हैं।

छेदोपस्थापना - प्रमाद के वश से चारित्र में कोई दोष लग जाने पर प्रायश्चित्त के द्वारा उसको दूर कर पुनः निर्दोष चारित्र को स्वीकार करना सो छेदोपस्थापना चारित्र है।

परिहार विशुद्धि - जिस चारित्र में जीवों की हिंसा का त्याग हो जाने से विशेष शुद्धि प्राप्त होती है उसको परिहारविशुद्धि चारित्र कहते हैं।

सूक्ष्मसाम्पराय - अत्यन्त सूक्ष्म कषाय का उदय होने पर जो चारित्र होता है उसे सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र कहते हैं।

यथाख्यात - सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के क्षय अथवा उपशम से आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थिर होने को यथाख्यात चारित्र कहते हैं॥१८॥

निर्जरा तत्त्व का वर्णन

बाह्य तप

अनशनाव-मौदर्य-वृत्ति-परिसंख्यान-रस-परित्याग विवक्त-शय्यासन-कायक्लेशा बाह्यं तपः ॥११॥

अर्थ - १. **अनशन** = संयम की वृद्धि के लिये चार प्रकार के आहार का त्याग करना २. **अवमौदर्य** = रागभाव दूर करने के लिये भूख से कम भोजन करना ३. **वृत्ति परिसंख्यान** = भिक्षा को जाते समय घर, गली आदि का नियम करना ४. **रस परित्याग** = इन्द्रियों का दमन करने के लिये घृत, दुग्ध आदि रसों का त्याग करना ५. **विविक्त शय्यासन** = स्वाध्याय ध्यान आदि की सिद्धि के लिये एकान्त तथा पवित्र स्थान में सोना बैठना ६. **कायक्लेश** = शरीर से ममत्व न रखकर आतापन योग आदि धारण करना, ये बाह्य तप हैं। ये तप बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा से होते हैं तथा बाह्य में सबके देखने में आते हैं, इसलिये बाह्य तप कहे जाते हैं॥१९॥

आभ्यन्तर तप

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्॥२०॥

अर्थ - १. **प्रायश्चित्त** = प्रमाद अथवा अज्ञान से लगे हुए दोषों की शुद्धि करना, २. **विनय** = पूज्य पुरुषों का आदर करना, ३. **वैयावृत्य** = शरीर तथा अन्य वस्तुओं से मुनियों की सेवा करना, ४. **स्वाध्याय** = ज्ञान की भावना में आलस्य नहीं करना, ५. **व्युत्सर्ग** = बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना ६. **ध्यान** = चित्त की चंचलता को रोककर उसे किसी एक पदार्थ के चिन्तवन में लगाना, ये ६ आभ्यन्तर तप हैं। इन तपों का आत्मा से घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिये इन्हें आभ्यन्तर तप कहते हैं॥२०॥

आभ्यन्तर तपों के उत्तर भेद

नव चतु-र्दश-पञ्च-द्वि-भेदा यथाक्रमम् प्राग्ध्यानात्॥२१॥

अर्थ - ध्यान से पहले के पाँच तप क्रम से ९, ४, १०, ५ और २ भेद वाले हैं॥२१॥

प्रायश्चित्त के ९ भेद

आलोचना-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग
तपश्छेद-परिहारोप-स्थापनाः॥२२॥

अर्थ - १. **आलोचना** = प्रमाद के वश से लगे हुए दोषों को गुरु के पास जाकर निष्कपट रीति से कहना २. **प्रतिक्रमण** = मेरे द्वारा किये हुए अपराध मिथ्या हो ऐसा कहना ३. **तदुभय** = आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों को करना ४. **विवेक** = संसक्त आहार-पानी का तथा अन्य उपकरणों का नियमित समय तक पृथक् विभाग करना ५. **व्युत्सर्ग** = कायोत्सर्ग करना ६. **तप** = उपवासादि करना ७. **छेद** = एक

दिन, एक पक्ष, एक महीना आदि की दीक्षा का छेद करना **८. परिहार** = दिन, पक्ष, महीना आदि नियमित समय तक संघ से पृथक् कर देना और **९. उपस्थापना** = सम्पूर्ण दीक्षा को छेदकर फिर से नवीन दीक्षा देना। ये ९ प्रायश्चित्त तप के भेद हैं। यह प्रायश्चित्त संघ के आचार्य देते हैं॥२२॥

विनय तप के चार भेद

ज्ञान-दर्शन-चारित्रोपचाराः॥२३॥

अर्थ - **१. ज्ञानविनय** - आदर पूर्वक योग्यकाल में शास्त्र पढ़ना, अभ्यास करना आदि, **२. दर्शनविनय** = शङ्का, कांक्षा आदि दोष रहित सम्यग्दर्शन को धारण करना, **३. चारित्र विनय** = चारित्र को निर्दोष रीति से पालना और **४. उपचार विनय** = आचार्य आदि पूज्य पुरुषों को देखकर खड़े होना, नमस्कार करना आदि, ये चार विनय तप के भेद हैं॥२३॥

वैयावृत्य तप के १० भेद

आचार्योपाध्याय-तपस्वि-शैक्ष-ग्लान-गण-
कुल-संघ-साधु-मनोज्ञानाम्॥२४॥

अर्थ - आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इस १० प्रकार के मुनियों की सेवा करना सो आचार्य वैयावृत्य आदि १० प्रकार का वैयावृत्य है॥२४॥

आचार्य - जो मुनि पंचाचार का स्वयं आचरण करते और दूसरों को आचरण कराते हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं।

उपाध्याय - जिनके पास शास्त्रों का अध्ययन किया जाता हो, वे उपाध्याय कहलाते हैं।

तपस्वी - महान् उपवास के करने वाले साधुओं को तपस्वी कहते हैं।

शैक्ष्य - शास्त्र के अध्ययन में तत्पर मुनि शैक्ष्य कहलाते हैं।

ग्लान - रोग से पीड़ित मुनि ग्लान कहलाते हैं।

गण - वृद्ध मुनियों के अनुसार चलने वाले मुनियों के समुदाय को गण कहते हैं।

कुल - दीक्षा देने वाले आचार्य के शिष्यों को कुल कहते हैं।

संघ - ऋषि, यति, मुनि, अनगार - इन चार प्रकार के मुनियों के समूह को संघ कहते हैं।

साधु – जिनने बहुत काल से मुनि दीक्षा ग्रहण की है, उन्हें साधु कहते हैं।

मनोज्ञ – लोक में जिनकी प्रशंसा बढ़ रही हो, उन्हें मनोज्ञ कहते हैं।

स्वाध्याय तप के ५ भेद

वाचना-पृच्छनानु-प्रेक्षाम्नाय धर्मोपदेशाः ॥२५॥

अर्थ – **वाचना** = निर्दोष ग्रन्थ को, उसके अर्थ को तथा दोनों को भव्य जीवों को श्रवण कराना, **पृच्छना** = संशय को दूर करने के लिये अथवा कृत निश्चय को दृढ़ करने के लिये प्रश्न पूछना, **अनुप्रेक्षा** = जाने हुए पदार्थ का बार-बार चिन्तवन करना, **आम्नाय** = निर्दोष उच्चारण करते हुए पाठ करना **धर्मोपदेश** = धर्म का उपदेश करना, ये पाँच स्वाध्याय तप के भेद हैं॥२५॥

व्युत्सर्ग तप के २ भेद

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥२६॥

अर्थ – **बह्योपधि व्युत्सर्ग** = धनधान्यादि बाह्य पदार्थों का त्याग करना **आभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग** = क्रोध, मान आदि खोटे भावों का त्याग करना, ये दो व्युत्सर्ग तप के भेद हैं॥२६॥

ध्यान तप का लक्षण

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधोध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥२७॥

अर्थ – **उत्तमसंहननस्य** = उत्तम संहनन वाले का, **अन्तर्मुहूर्तात्** = अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त, **एकाग्रचिन्तानिरोधः** = एकाग्रता से चिन्ता का रोकना, **ध्यानम्** = ध्यान है।

भावार्थ – किसी एक विषय में चित्त को रोकना सो ध्यान है। वह उत्तम संहननधारी जीवों के ही होता है और एक पदार्थ का ध्यान अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय तक नहीं होता॥२७॥

ध्यान के भेद

आर्त्त-रौद्र-धर्म्य-शुक्लानि ॥२८॥

अर्थ – आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान ये ध्यान के चार भेद हैं॥२८॥

परे-मोक्ष-हेतू ॥ २९ ॥

अर्थ - इनमें से धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं॥२९॥

नोट - (१) धर्म्यध्यान परम्परा से और शुक्लध्यान साक्षात् मोक्ष का कारण है।

नोट - (२) आदि के आर्त और रौद्र ये २ ध्यान संसार के कारण हैं।

आर्त्तध्यान का लक्षण और भेद

आर्तममनोज्ञस्यसम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ ३० ॥

अर्थ - अनिष्ट पदार्थ का संयोग होने पर उसे दूर करने के लिये बार-बार विचार करना सो (१) अनिष्ट संयोगज नामक आर्तध्यान है॥३०॥

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥ ३१ ॥

अर्थ - स्त्री, पुत्र आदि इष्टजनों का वियोग होने पर उनके संयोग के लिये बार- बार चिन्ता करना सो (२) इष्ट वियोगज नामका आर्त्तध्यान है॥३१॥

वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥

अर्थ - रोगजनित पीड़ा का निरन्तर चिन्तवन करना सो (३) वेदनाजन्य नामक आर्त्तध्यान है॥३२॥

निदानं च ॥ ३३ ॥

अर्थ - आगामी काल सम्बन्धी विषय की प्राप्ति में चित्त को तल्लीन करना सो (४) निदान नामक आर्त्तध्यान है॥३३॥

गुणस्थानों की अपेक्षा आर्त्तध्यान के स्वामी

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ - वह आर्त्तध्यान अविरत अर्थात् आदि के चार गुणस्थान, देशविरत अर्थात् पंचम गुणस्थान और प्रमत्तसंयत अर्थात् छठवें गुणस्थान में होता है॥३४॥

नोट - छठवें गुणस्थान में निदान नाम का आर्त्तध्यान नहीं होता है।

रौद्रध्यान के भेद व स्वामी

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥ ३५ ॥

अर्थ - हिंसा, झूठ, चोरी और विषय संरक्षण से उत्पन्न हुआ ध्यान रौद्रध्यान कहलाता है और वह अविरत तथा देशविरत (आदि के पाँच) गुणस्थानों में होता है॥३५॥

भावार्थ - निमित्त के भेद से रौद्रध्यान चार प्रकार का होता है। **१. हिंसानन्दी** - हिंसा में आनन्द मानकर उसी के साधन जुटाने में तल्लीन रहना, **२. मृषानन्दी** - असत्य बोलने में आनन्द मान कर उसी का चिन्तवन करना, **३. चौर्यानन्दी** - चोरी में आनन्द मान कर उसी का चिन्तवन करना और **४. परिग्रहानन्दी** - परिग्रह की रक्षा की चिन्ता करना तथा उस परिग्रह को देखकर आनन्दित होना।

धर्मध्यान का स्वरूप व भेद

आज्ञा-पाय-विपाक-संस्थान-विचयाय धर्म्यम्॥३६॥

अर्थ - आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय के लिये चिन्तवन करना सो धर्म्यध्यान है॥३६॥

भावार्थ - धर्म्यध्यान के चार भेद हैं- **१. आज्ञाविचय**- आगम की प्रमाणता से अर्थ का विचार करना, **२. अपायविचय** - संसारी जीवों के दु:ख का तथा उससे छूटने के उपाय का चिन्तवन करना, **३. विपाकविचय** - कर्म के फल का उदय का विचार करना, और **४. संस्थानविचय** - लोक के आकार का विचार करना।

स्वामी - यह धर्म्यध्यान चौथे गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान तक श्रेणी चढ़ाने के पहले तक होता है॥३६॥

शुक्लध्यान के स्वामी

शुक्ले-चाद्ये पूर्वविदः ॥३७॥

अर्थ - प्रारम्भ के पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क नामक दो शुक्लध्यान पूर्वज्ञानधारी श्रुतकेवली के होते हैं॥३७॥

नोट - चकार से श्रुतकेवली के धर्म्यध्यान भी होता है॥३७॥

परे केवलिनः॥३८॥

अर्थ - अन्त के सूक्ष्मक्रियाप्रतिपात और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये दो शुक्लध्यान सयोगकेवली और अयोगकेवली के ही होते हैं॥३८॥

शुक्लध्यान के चार भेदों के नाम

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि॥३९॥

अर्थ - पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपात और व्युपरतक्रिया निवर्ति ये शुक्लध्यान के चार भेद हैं॥३९॥

शुक्लध्यान के आलम्बन

त्र्येक-योग-काय-योगा-योगानाम् ॥४०॥

अर्थ - उक्त चार भेद क्रम से तीन योग, एक योग, काय योग और योग रहित जीवों के होते हैं अर्थात् पहला पृथक्त्ववितर्कध्यान मन, वचन, काय इन तीनों योगों के धारक के होता है दूसरा एकत्ववितर्कध्यान तीन योगों में से किसी एक योग के धारक के होता है। तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यान सिर्फ काययोग के धारक के होता है और चौथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान योग रहित जीवों के होता है॥४०॥

आदि के ध्यानों की विशेषता

एकाश्रये-सवितर्क-वीचारे पूर्वे ॥४१॥

अर्थ - एक परिपूर्ण श्रुतज्ञानी के आश्रित रहने वाले प्रारम्भ के दो ध्यान वितर्क और वीचार सहित हैं॥४१॥

अवीचारं द्वितीयम्॥४२॥

अर्थ - किन्तु दूसरा शुक्लध्यान वीचार से रहित है॥४२॥

भावार्थ - जिसमें वितर्क और वीचार दोनों हों, उसे पृथक्त्ववितर्क नामक शुक्लध्यान कहते हैं और जो केवल वितर्क से सहित हो, उसे एकत्ववितर्क नामक शुक्लध्यान कहते हैं।

सूक्ष्मकाययोग के आलम्बन से जो ध्यान होता है, उसे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक शुक्लध्यान कहते हैं। जिसमें आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन पैदा करने वाली श्वासोच्छ्वास आदि समस्त क्रियाएँ निवृत्त हो जाती हैं- रुक जाती है, उसे व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक शुक्ल- ध्यान कहते हैं॥४२॥

वितर्क का लक्षण

वितर्कः श्रुतम्॥४३॥

अर्थ - श्रुतज्ञान को वितर्क कहते हैं॥४३॥

वीचार का लक्षण

वीचारोऽर्थ व्यञ्जन-योग संक्रान्तिः॥४४॥

अर्थ - अर्थ, व्यंजन और योग की पलटना को वीचार कहते हैं॥४४॥

अर्थ संक्रान्ति - अर्थ अर्थात् ध्यान करने योग्य पदार्थ को छोड़कर उसकी पर्याय को ध्यावे और पर्याय को छोड़कर द्रव्य को ध्यावे सो अर्थसंक्रान्ति है।

व्यञ्जनसंक्रान्ति - श्रुत के एक वचन को छोड़कर अन्य का अवलम्बन करना और उसे छोड़ किसी अन्य का अवलम्बन करना को व्यञ्जनसंक्रान्ति है।

योगसंक्रान्ति - काययोग को छोड़कर मनोयोग या वचन योग को ग्रहण करना और उन्हें छोड़कर किसी अन्य योग को ग्रहण करना सो योगसंक्रान्ति है॥४४॥

पात्र की अपेक्षा निर्जरा में न्यूनाधिकता का वर्णन

सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरतानन्त-वियोजक-दर्शन मोह क्षपकोप शमकोप शान्त मोह-क्षपक-क्षीण मोह-जिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुण निर्जराः॥४५॥

अर्थ - १. सम्यग्दृष्टि, २. पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक, ३. विरत (मुनि), ४. अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने वाला, ५. दर्शन मोह वाला, ८. क्षपकश्रेणि चढ़ता हुआ, ९. क्षीणमोह (बारहवें गुणस्थान वाला) और १०. जिनेन्द्र भगवान् इन सबके (अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त परिणामों की विशुद्धता की अधिकता से आयु कर्म को छोड़कर प्रति समय क्रम से असंख्यातगुणी निर्जरा होती है॥४५॥

निर्ग्रन्थ-साधुओं के भेद

पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः॥४६॥

अर्थ - पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थ साधु हैं॥४६॥

पुलाक - जो उत्तर गुणों की भावना से जो रहित हों तथा किसी क्षेत्र व काल में मूलगुणों में भी दोष लगावें उन्हें पुलाक कहते हैं।

वकुश - जो मूलगुणों का निर्दोष पालन करते हों परन्तु अपने शरीर व उपकरणादि की शोभा बढ़ाने की इच्छा रखते हों उन्हें वकुश कहते हैं।

कुशील - कुशील मुनि दो दो प्रकार के होते हैं- एक प्रतिसेवनाकुशील और दूसरे कषायकुशील।

प्रतिसेवनाकुशील – जिसके उपकरण तथा शरीरादि से विरक्ता न हो और मूल गुण तथा उत्तरगुण की परिपूर्णता है, परन्तु उत्तरगुणों में कुछ विराधना दोष हों, उन्हें प्रतिसेवना कुशील कहते हैं।

कषायकुशील – जिन्होंने संज्वलन के सिवाय अन्य कषायों को जीत लिया हो, उन्हें कषायकुशील कहते हैं।

निर्ग्रन्थ – जिनका मोहकर्म क्षीण हो गया, ऐसे बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

स्नातक – समस्त घातिया कर्मों का नाश करने वाले केवली भगवान् स्नातक कहलाते हैं॥४६॥

पुलाकादि मुनियों में विशेषता

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थान-
विकल्पतः साध्याः॥४७॥

अर्थ – उक्त मुनि संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ अनुयोगों के द्वारा भेद-रूप से साध्य है। अर्थात्-इन आठ अनुयोग के आधार पर पुलाक आदि मुनियों के विशेष भेद होते हैं॥४७॥

॥ इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रे नवमोऽध्यायः॥

दशम अध्याय

मोक्ष तत्त्व का वर्णन

केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण

मोह-क्षयाज्-ज्ञान-दर्शनावरणान्तराय-क्षयाच्च केवलम्॥१॥

अर्थ - मोहनीय कर्म के क्षय होने से अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त क्षीणकषाय नामक बारहवाँ गुणस्थान पाकर बाद में एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है॥१॥

भावार्थ - चार घातिया कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने पर केवलज्ञान होता है॥१॥

नोट - घातिया कर्मों में सबसे पहले मोहनीक कर्म का क्षय होता है, इसलिये सूत्र में गौरव होने पर भी उसका पृथक् निर्देश किया है॥१॥

मोक्ष के कारण और लक्षण

बन्ध-हेत्व-भाव निर्जराभ्यां कृत्स्न-कर्म-विप्र-मोक्षो- मोक्षः॥२॥

अर्थ - बन्ध के कारणों का अभाव तथा निर्जरा के द्वारा ज्ञानावरणादि समस्त कर्मप्रकृतियों का अत्यन्त अभाव होना है॥२॥

भावार्थ - आत्मा से समस्त कर्मों का सम्बन्ध छूट जाना मोक्ष है और वह संवर तथा निर्जरा के द्वारा प्राप्त होता है॥२॥

मोक्ष में कर्मों के सिवाय और किसका अभाव होता है ?

औपशमिकादि भव्यत्वानां-च ॥३॥

अर्थ - मुक्त जीव के औपशमिक आदि भावों का तथा पारिणामिक भावों में से भव्यत्व भाव का भी अभाव हो जाता है॥३॥

अन्यत्र केवल-सम्यक्त्व ज्ञान-दर्शन- सिद्धत्वेभ्यः ॥४॥

अर्थ - केवल सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवल दर्शन और सिद्धत्व इन भावों को छोड़कर मोक्ष में अन्य भावों का अभाव हो जाता है॥४॥

भावार्थ - मुक्त अवस्था में जीवत्व नामक पारिणामिक भाव और कर्मों के क्षय से प्रकट होने वाले आत्मिक भाव रहते हैं, शेष का अभाव हो जाता है॥४॥

नोट – जिन गुणों का अनन्तज्ञानादि के साथ सहभाव सम्बन्ध है, ऐसे अनन्तवीर्य, अनन्तसुख आदि गुण भी पाये जाते हैं॥४॥

कर्मों का क्षय होने के बाद

तदनन्तरमूर्ध्वंगच्छत्यालोकान्तात्॥५॥

अर्थ – समस्त कर्मों का क्षय होने के बाद मुक्त जीव लोक के अन्त भाग पर्यन्त ऊपर को जाता है॥५॥

मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन में कारण

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च॥६॥

अर्थ – **पूर्व प्रयोग** = (पूर्व संस्कार) से, संगरहित होने से, कर्म-बन्धन के नष्ट होने से तथा गति परिणाम अर्थात् ऊर्ध्वगमन का स्वभाव होने से मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है॥६॥

उक्त चारों कारणों के क्रम से चार दृष्टान्त

आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाम्बुवदेरण्डबी-
जवदग्निशिखावच्च॥७॥

अर्थ – (१) मुक्त जीव कुम्भकार के द्वारा घुमाये हुए चाक की तरह पूर्व प्रयोग से ऊर्ध्वगमन करता है। अर्थात् जिस प्रकार कुम्भकार चाक को घुमा कर छोड़ देता है, तब भी चक्र पहले के भरे हुए वेग के वश से घूमता रहता है। उसी प्रकार जीव भी संसार अवस्था में मोक्ष प्राप्ति के लिये बार-बार अभ्यास करता है। मुक्त होने पर यद्यपि उसका वह अभ्यास छूट जाता है, तथापि वह पहले के अभ्यास से ऊपर को गमन करता है। (२) मुक्त जीव, दूर हो गया है लेप जिसका ऐसे तुम्बी की तरह ऊपर को जाता है। अर्थात् तुम्बी पर जब तक मिट्टी का लेप रहता है, तब तक वह वजनदार होने से पानी में डूबी रहती है, पर ज्यों ही उसकी मिट्टी गलकर दूर हो जाती है, त्यों ही वह पानी के ऊपर आ जाती है इसी प्रकार यह जीव जब तक कर्मलेप से सहित होता है, तब तक संसार- समुद्र में डूबा रहता है, पर ज्यों ही इसका कर्मलेप दूर होता है, त्यों ही वह ऊपर उठ कर लोक के ऊपर पहुँच जाता है। (३) मुक्त जीव कर्म-बन्ध से मुक्त होने के कारण एरण्ड के बीज के समान ऊपर को जाता है। अर्थात् एरण्ड वृक्ष का सूखा बीज जब चटकता है, तब उसकी मिंगी जिस प्रकार ऊपर को जाती है उसी प्रकार यह जीव कर्मों का बन्धन दूर होने पर ऊपर को जाता है और (४) मुक्त जीव स्वभाव से ही अग्नि की शिखा की तरह ऊर्ध्वगमन करता

है। अर्थात् जिस प्रकार हवा के अभाव में अग्नि (दीपक आदि) की शिखा ऊपर को जाती है, उसी प्रकार कर्मों के बिना यह जीव भी ऊपर को जाता है॥७॥

लोकाग्र के आगे नहीं जाने में कारण

धर्मास्तिकायाभावात्॥८॥

अर्थ - धर्म द्रव्य का अभाव होने से मुक्त जीव लोकाग्र भाग के आगे अर्थात् अलोकाकाश में नहीं जाते हैं। क्योंकि जीव और पुद्गलों का गमन धर्म द्रव्य की सहायता से ही होता है और अलोकाकाश में धर्म द्रव्य का अभाव है॥८॥

मुक्त जीवों में भेद होने के कारण

क्षेत्र-काल-गति-लिंग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येक-बुद्ध बोधित-ज्ञानावगाह-नान्तर संख्याल्प बहुत्वतः साध्याः॥९॥

अर्थ - क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येक बुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहन, अन्तर, संख्या और अल्पबहुतत्व, इन बारह अनुयोगों से सिद्धों में भेद साधने योग्य है॥९॥

भावार्थ - **क्षेत्र**-कोई भरतक्षेत्र से, कोई ऐरावत क्षेत्र से और कोई विदेहक्षेत्र से सिद्ध हुए हैं। इस प्रकार क्षेत्र की अपेक्षा सिद्धों में भेद होता है। **काल**-कोई उत्सर्पिणीकाल में सिद्ध हुए हैं और कोई अवसर्पिणीकाल में। **गति**-कोई सिद्ध गति से और कोई मनुष्य गति से सिद्ध हुए हैं। **लिङ्ग**-वास्तव में अलिंग से ही सिद्ध होते हैं अथवा द्रव्यपुल्लिंग से ही सिद्ध होते हैं। भावलिंग की अपेक्षा तीन लिंगों से मुक्त हो सकते हैं। **तीर्थ**-कोई तीर्थंकर होकर सिद्ध होते हैं, कोई बिना तीर्थंकर हुए सिद्ध होते हैं। कोई तीर्थंकर के काल में सिद्ध होते हैं और कोई तीर्थंकर मोक्ष चले जाने के बाद उनके तीर्थ (आम्नाय) में सिद्ध होते हैं। **चारित्र**-चारित्र की अपेक्षा कोई एक से अथवा कोई भूतपूर्व नय की अपेक्षा दो तीन चारित्र से सिद्ध हुए हैं। **प्रत्येकबुद्धबोधित**-कोई स्वयं संसार से विरक्त होकर मोक्ष को प्राप्त हुए हैं और कोई किसी के उपदेश से। **ज्ञान**-कोई एक ही ज्ञान से और कोई भूतपूर्व नय की अपेक्षा दो, तीन, चार ज्ञान से सिद्ध हुए हैं॥९॥

अवगाहना - कोई उत्कृष्ट अवगाहना-पाँच सौ पच्चीस धनुष से सिद्ध हुए हैं। कोई मध्यम अवगाहना से और कोई जघन्य अवगाहना कुछ कम साढ़े तीन हाथ से सिद्ध हुए हैं। **अन्तर**-एक सिद्ध से दूसरे सिद्ध होने का अन्तर जघन्य से एक

समय और उत्कृष्ट से आठ समय का है तथा विरहकाल जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छः माह का होता है। **संख्या**-जघन्य से एक समय में एक ही जीव सिद्ध होता है और उत्कृष्टता से १०८ जीव सिद्ध हो सकते हैं। **अल्पबहुत्व**-समुद्र आदि जल क्षेत्रों से थोड़े सिद्ध होते हैं और विदेहादि क्षेत्रों से अधिक सिद्ध होते हैं। इस प्रकार सिद्ध जीवों में बाह्य निमित्त की अपेक्षा भेद की कल्पना की गई है। वास्तव में आत्मीय गुणों की अपेक्षा कुछ भी भेद नहीं रहता॥९॥

॥ इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रे दशमोऽध्यायः॥

दोधक वृत्त नामक छंद

अक्षर-मात्र-पद-स्वर-हीनं व्यंजन संधि विवर्जितरेफम्।
साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्र समुद्रे॥१॥

अर्थ - इस शास्त्र में यदि कहीं अक्षर मात्रा पद वा स्वर रहित हो तथा व्यंजन संधि व रेफ से रहित हों तो सज्जन पुरुष मुझे क्षमा करें। क्योंकि शास्त्र-रूपी समुद्र में कौन पुरुष मोह को प्राप्त नहीं होता? अर्थात् भूल नहीं करता?॥१॥

अनुष्टुप छंद

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनि पुंगवै॥२॥

अर्थ - दश अध्यायों में विभक्त इस तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) का पाठ करने से श्रेष्ठ मुनियों ने एक उपवास का फल कहा है॥२॥

भावार्थ - जो पुरुष भावपूर्वक पूर्ण मोक्षशास्त्र का पाठ करता है, उसे एक उपवास का फल लगता है॥२॥